पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला ३७

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

आचारांगसूत्र :
एक अध्ययन

डॉ० परमेष्ठीदास जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी-२२१००५

प्रकाशन वर्ष :
सन् १९८७

वीर निर्वाण संवत् २५१३
संस्करण : प्रथम
मूल्य : रु० [redacted].००

Ācārāṅgasūtra : Eka Adhyayana
By Dr. Parameshthidas Jain

Price : Rs. [redacted].00
First Edition 1987

मुद्रक :
डिवाइन प्रिन्टर्स
सोनारपुरा, वाराणसी

प्रकाशकीय

आचारांग जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में जो प्रामाणिक शोधपूर्ण लेखों के प्रकाशन हुए हैं वे मुख्यतः जर्मन और अंग्रेजी भाषा में ही हुए हैं। हिन्दी भाषा में तो ऐसे लेखों का प्रायः अभाव ही है। जब हमें डा० रामजी उपाध्याय से यह ज्ञात हुआ कि आचारांग पर एक शोधकार्य डा० परमेष्ठीदास जैन द्वारा सागर विश्वविद्यालय से हुआ है तो हमारे मन में उसके प्रकाशन का विचार हुआ। फलस्वरूप प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उनके परिवार से प्रकाशनार्थ प्राप्त किया गया है। शोध प्रबन्ध को आद्योपान्त पढ़ने के बाद संस्थान के निदेशक डॉ० सागर मल जैन को ऐसा लगा कि इसमें पर्याप्त परिमार्जन की आवश्यकता है। चूंकि शोध प्रबन्ध के लेखक स्वर्गस्थ हो चुके थे अतः परिमार्जन का दायित्व भी उन्हें ही निर्वाह करना पड़ा। इस कार्य में प्रारम्भ में डा० सुदर्शनलालजी जैन से सहयोग प्राप्त किया और लगभग १०० पृष्ठ की सामग्री उन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक सम्पादित करके हमें प्रदान की। आगे शेष सम्पादन का कार्य डा० अरुण प्रताप सिंह एवं डॉ० रविशंकर मिश्र के सहयोग से पूर्ण किया गया। इन सम्पादनों के परिणामस्वरूप ग्रन्थ में काफी कुछ परिवर्तन और परिवर्धन हुआ, उसमें कुछ अंश परिवर्तित किये गये हैं और कुछ निकाल दिये गये हैं। फिर भी हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि लेखक के विचारों और भावनाओं को यथावत् रहने दिया जाये। संस्थान इसके लिए लेखक और सम्पादकों का आभारी है। ग्रन्थ का मुद्रणकार्य भी विलम्बित होता रहा। अन्त में डिवाइन प्रिन्टर्स ने इनके मुद्रण के दायित्व को पूर्ण किया, अतः हम उनके भी आभारी हैं। ग्रन्थ के पूर्व में एक महत्वपूर्ण भूमिका आवश्यक था। इस भूमिका के लिखने का दायित्व भी संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन ने निर्वाह किया। इसके प्रूफ संशोधन के कार्य में डा० शिवप्रसाद एवं श्री अशोक कुमार सिंह का सहयोग प्राप्त हुआ, अतः उनके प्रति भी आभारी हूँ। आशा है यह

ग्रन्थ न केवल विद्वानों के लिए अपितु सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा। अन्त में हम लेखक के परिजनों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने हमें प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन हेतु उपलब्ध कराया। ग्रन्थ आज प्रकाशित हो रहा है किन्तु अपनी कृति को प्रकाशित रूप से देखने के लिए हमारे बीच लेखक नहीं हैं; प्रकाशन की इस बेला में हम उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मन्त्री
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान संचालक समिति

लेखकीय

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग अङ्ग साहित्य के नाम से विख्यात है। इनमें आचारांगसूत्र को प्रथम स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ में साधुओं के साधना सम्बन्धी निर्देशों एवं आचार नियमों का विवेचन है। आचारांग के व्याख्याकारों ने इसे आगमों का सार कहा है। आचारांग में मुनियों के आचार-विचार सम्बन्धी नियमों के साथ ही तत्कालीन समाज, शासन, इतिहास एवं संस्कृति-सम्बन्धी बातों का उल्लेख मिलता है। आचारांगसूत्र दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित है, पहले श्रुतस्कन्ध में ९ एवं दूसरे श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन, इस प्रकार सब मिलाकर २५ अध्ययन थे, लेकिन वर्तमान में २४ अध्ययन और ७८ उद्देशक हैं। पहले श्रुतस्कन्ध का सातवां अध्ययन 'महापरिज्ञा' लुप्त हो गया है। दूसरे श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन चार चूलिकाओं में वर्गीकृत किए गए हैं। आचारांगसूत्र की पांचवी चूलिका निशीथ है, जो आचारांग से अलग करके स्वतन्त्र छेदसूत्र के रूप में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के लेखक एवं समय के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ का प्राचीनतम भाग ईसापूर्व चतुर्थ-तृतीय शताब्दी का और उत्तरवर्ती भाग ईसा की पांचवी शताब्दी तक का है। आचारांगसूत्र पर भद्रबाहु स्वामी ने (ई० सन् ८०) ३५६ श्लोक प्रमाण निर्युक्ति लिखी है। दूसरा टीकाग्रन्थ चूर्णि है जिसके रचयिता जिनदासगणि हैं। उनका समय ईसा की छठवीं या सातवीं शताब्दी रहा है। उन्होंने निर्युक्ति का आधार लेकर अपना ग्रन्थ लिखा है। शीलांकसूरि अपरनाम तत्वादित्य ने ईसा की ८ वीं या ९ वीं शताब्दी में आचारांगसूत्र पर विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। इनके सिवाय गन्धिहस्तिन् ने आचारांगसूत्र की शस्त्रपरिज्ञा पर टीका लिखी थी, जो उपलब्ध नहीं है। जिनहंस, लक्ष्मी कोलोलगणि और अजितदेवसूरि ने भी इस ग्रन्थ पर टीकाएं लिखी हैं। जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जाकोबी के (सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट जिल्द २२ में) अंग्रेजी अनुवाद ने पाश्चात्य जगत् में इसके प्रसार में महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभाई है। विशेषकर इस ग्रन्थ की ५३ पृष्ठीय भूमिका में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए हैं।

जैन परम्परा में आचार के ५ भेद माने गये हैं—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार (५) वीर्याचार। इनका प्रतिपादन इस ग्रंथ के प्रथम श्रुतस्कन्ध में हुआ है। आचारांग-सूत्र के प्रथम तीन अध्ययनों में ज्ञानाचार का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ अध्ययन में दर्शनाचार, पांचवें और छठवें अध्ययन में चारित्राचार तथा आठवें और नवें अध्ययन में तपाचार और वीर्याचार का वर्णन मिलता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में समस्त विवक्षित अर्थ का समावेश नहीं हो पाया है और जो कहा गया है, वह भी संक्षेप में है, इसलिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अनुक्त विषयों का वर्णन किया गया है और संक्षेप को विस्तार दिया गया है। इस श्रुतस्कन्ध में मुख्यतः मुनि आचार आदि का विशद विवेचन पाया जाता है।

आचारांगसूत्र की अपनी कई विशेषताएं हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में बहुधा पूर्ण वाक्य के स्थान में वाक्यांश ही प्राप्त होते हैं जिनका दूसरे वाक्यों से कोई सम्बन्ध नहीं दिखता। आचारांग के समान ही सूत्र-कृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक के प्राचीन सूत्रों में भी ऐसे ही पदों का प्रयोग किया गया है। प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसके विषय, भाषा एवं शैली की विभिन्नताओं को दृष्टिगत रखते हुए इन्हें समकालीन नहीं कहा जा सकता है।

आचारांगसूत्र मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का प्रतिपादन करता है, इसलिए यह प्रवचन का सार है। मोक्ष का अर्थ है आत्मा की स्वाभाविक शुद्ध अवस्था। मोक्ष के लिए कषायों से विरक्ति आवश्यक है। कषाय ही संसार के मूल कारण हैं। इन पर विजय प्राप्त करके ही साधु जन्म-मरण से छूट सकता है। आचारांगसूत्र में मुक्तावस्था में स्थित जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है। मोक्ष का आदिमूल विनय है, क्योंकि विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्र प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता का नाम मोक्षमार्ग है। आचारांगसूत्र आचार

प्रधान ग्रंथ है इसलिए इसमें सम्यक्चारित्र का वर्णन बिखरा हुआ पड़ा है। इसी के अन्तर्गत संयम, तप और समता का वर्णन प्राप्त होता है।

यद्यपि आचारांग का मुख्य विषय आचार या चारित्र है, फिर भी इसमें वर्णित विषय दर्शनशास्त्र से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सम्बद्ध हैं। पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, संसार की पदार्थ-व्यवस्था आदि विषयों का स्पष्ट दिग्दर्शन इसमें पाया जाता है। आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में अहिंसा का विवेचन आया है जिसमें जीव का अस्तित्व, कर्म-बन्ध का कारण और मोक्ष—इन तत्त्वों का निरूपण हुआ है।

आचारांगसूत्र की भाषा अर्धमागधी है। यह उस समय की जन-भाषा रही है इसलिए भगवान् महावीर ने अपना उपदेश जनभाषा में ही दिया। इस ग्रन्थ का शब्द भण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त है—तत्सम, देश्य और तद्भव। आचारांगसूत्र में तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है। इस ग्रन्थ में ध्वनि परिवर्तन के मुख्य दो प्रकार उपलब्ध हैं। लोप, आगम, समीकरण, विषमीकरण, अनुनासिकता, मात्राभेद, घोषीकरण, महाप्राण और ऊष्मीकरण के उदाहरण इस ग्रंथ में सरलता से खोजे जा सकते हैं। इसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ को परखा जा सकता है। भाषा नामक एक अध्ययन ही इस ग्रंथ में है। प्रथम और द्वितीय इन दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा में पर्याप्त अन्तर परिलक्षित होता है, इनके शब्द और वाक्य-विन्यास भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

आचारांगसूत्र में भाषा के साहित्यिक गुणों का भी समावेश पाया जाता है। साहित्य के चार तत्त्व हैं। बौद्धिकता, भावनात्मकता, कला और शैली। आचारांगसूत्र में अहिंसा, सत्य, त्याग, संयम, तप आदि विषयों का तलस्पर्शी विवेचन पाया जाता है। आचारांग में भावना नामक अध्ययन के अन्तर्गत भगवान् महावीर के जीवन का वर्णन आता है। आचारांगसूत्र का विषय एवं उसके वर्णन की शैली सीधे हृदय पर प्रभाव डालने वाली है। सूत्रकार ने कल्पना के पीछे लम्बी उड़ानें भरना अपना लक्ष्य नहीं बनाया है और स्वाभाविकता में ही उन्होंने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति की है। इस स्वाभाविक वर्णन में कल्पना-तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। यह ग्रन्थ सरल शैली में

लिखा गया है। इस लिए छोटे-छोटे वाक्य, जनभाषा और अधिक प्रचलित देश्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें साधारण वाक्यों की बहुलता है, इसलिए यह सुगम और स्पष्ट है।

भगवान् महावीर के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने वाला प्राचीनतम भाग आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुरक्षित है। यहाँ भगवान् की दो माताओं का वर्णन आता है। आचारांग चूंकि साधु के आचार-नियम प्रतिपादित करता है, इसलिए साधु के आचार का तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से पांच महाव्रत, समिति, भोजन, शिक्षा, स्त्री सम्बन्धी नियम, चातुर्मास और समाधि इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत रहे हैं। सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद भी यहीं से प्रारम्भ होता है। भगवान् महावीर के निर्वाण की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है।

साथ ही, आचारांग में हमें तत्कालीन समाज का चित्र प्रतिबिम्बित होता है। समाज के इस रूप को साधु, गृहस्थ, जाति-कुल; पारस्परिक सहयोग व विरोध, प्रथा व मान्यताएं, भोज, भोजन-पान, निवास, वस्त्राभूषण, विवाह, रोग व उपचार, मनोरंजन, व्यापार, युद्ध व शासन और कला इन १५ खंडों में प्रदर्शित किया गया है। राजनीतिक दर्शन के सम्बन्ध में आचारांग में केवल विभिन्न शासन-प्रणालियों के नाम पाये जाते हैं। इनके सम्बन्ध में टीकाकारों ने भी मौन रखा है।

इस प्रकार यह शोध-प्रबन्ध ८ अध्यायों में विभक्त है।

एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त पूज्य डा० रामजी उपाध्याय एम० ए०, डी. लिट्, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय के निकट आने का अवसर मिला। एक दिन आपने मुझ-से कहा—तुम शोध कार्य अपने हाथ में ले लो, डा० सक्सेना साहब के निर्देशन में कार्य करना ठीक रहेगा, मैं आज उनसे मिलने वाला हूँ सारी बात कर लूंगा, तुम जाकर उनसे मिल लेना। इतनी सारी बातें कह डालीं एक सांस में। मैं सुनता रहा अवाक् होकर, क्या उत्तर देता, सोचा मिल ही लेना चाहिए।

मेरा यह प्रथम अवसर था पूज्यवर डा. सक्सेना जी से मिलने का, बड़े संकोच और भय के साथ मैं उनके समक्ष प्रस्तुत हुआ, लेकिन उनकी बातचीत से ऐसा लगा जैसे कोई चिर-परिचित शिष्य गुरु के निकट खड़ा हो और उनका सम्बोधन चल रहा हो। पूछा—"किस विषय पर शोध करना चाहते हो, कुछ विचार किया है।" विचार किया होता तो उत्तर देता, इसलिए मैंने कहा—"अभी तो उस सीमा तक नहीं पहुंच सका हूं। आप ही कुछ बताइये।" अच्छी बात है, दो तीन विषय लिख लो और इनके बारे में डा. हीरालाल जी से पत्र व्यवहार करो, बाद में निश्चय करेंगे। सब हुआ। डा. हीरालाल जी ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और आचारांगसूत्र पर ही कार्य करने की सम्मति प्रदान की। पत्र लेकर जब मैं डा. सक्सेना के पास पहुंचा तो बोले—"ठीक है। दो-तीन माह तक आचारांगसूत्र को अच्छी तरह से समझ लो—उसका अनुशीलन करो, फिर आना।" गुरु-आदेश शिरोधार्य करके मैं निर्दिष्ट कार्य में जुट गया; तदुपरान्त विषय सूची भी तैयार कर ली गई।

घुटने के बल चलने वाले बालक को खड़ाकर डा० उपाध्याय ने श्रद्धेय सक्सेना साहब के सुपुर्द कर दिया और मैं उनकी अंगुली पकड़े गिरता-पड़ता चलता रहा। कितने वात्सल्य, कितने सौहार्द्र से उन्होंने मुझे उस सागर के किनारे खड़ा कर दिया जिसमें से मुझे मोती निकालने थे। मेरे दुर्भाग्य से डा० सक्सेना साहब सागर छोड़कर देहली चले गए और मैं अकेला उस महासागर के किनारे बैठकर मुक्ता-प्राप्ति की चिन्ता में निमग्न हो गया। उस सागर में उठने वाली हिलोरों ने मुझे झकझोर दिया और कभी-कभी मैं उस सागर से बहुत दूर आ पड़ता, परन्तु डा० उपाध्याय जी फिर से मुझे वहां लाकर खड़ा कर देते। दिल्ली सरीखे दूरस्थ स्थान में रहते हुए भी डा० साहब ने मेरी कठिनाइयों का निराकरण करके मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया। मैंने हिम्मत की और सागर में डुबकी लगा ही ली। उस अन्धकार में भटककर मेरे हाथ में जितनी भी सीपियां आईं, उन्हें लेकर मैं बाहर निकला और अपने गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया। उनमें विद्यमान मुक्ता की चमक को किसने देखा था? कुछ सीपियां फोड़कर डा० साहब ने मुक्ता निकाले और उनकी चमक मुझे दिखाई। मैं भी उसी प्रकार सीपियां फोड़ता

रहा और मोती इकट्ठे करता रहा फिर—उन मोतियों से माला तैयार की है, जो आपसे समक्ष है।

अपने कार्य सम्पादन के लिए मुझे कई विद्वानों से एवं श्वेताम्बर मुनियों से प्रत्यक्ष वार्ता करके सहयोग लेना पड़ा है। उन सबके प्रति मैं अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ। इनमें सर्वश्री डा० हीरालाल जैन अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय; पं० दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद; पं० बेचरदास जी; अहमदाबाद, प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी; अहमदाबाद; डा० हरीन्द्रभूषण जैन, एम० ए०, साहित्याचार्य, पी एच० डी०; डा० मोहनलाल मेहता, वाराणसी; पं० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, सागर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रत्यक्ष वार्ता के सिवाय कभी-कभी पत्र व्यवहार के द्वारा भी हमें उक्त महामनीषियों से सम्पर्क साधना पड़ा और सबसे बड़ी प्रसन्नता की बात यह है कि हमें उक्त सज्जनों के यथाशीघ्र उत्तर मिलते रहे जिससे हमारे कार्य में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आ सकी। माननीय डा० पी० एल० वैद्य एवं डा० ए० एन० उपाध्ये का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने मुझे यथायोग्य मार्ग दर्शन की सुविधा प्रदान की है।

इनके सिवाय मेरे कार्य में अत्यधिक प्रेरणा देने वाले एवं परम-सहयोगी मित्रवर श्री नारायण प्रसाद शुक्ल, बी० ए० का नाम अग्रगण्य है जिनके प्रति आभार प्रदर्शन करने से अभिन्नता में दोष उत्पन्न हो जावेगा, अतः चुप रहता हूँ।

शोधकार्य में एक बड़ी अड़चन 'अर्थ' की भी होती है, इसके कारण भी कार्य में विलम्ब की सम्भावना हो सकती है, लेकिन मेरे सामने यह समस्या भी नहीं रही क्योंकि दि० जैन समाज ने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए मुझे ५०१ रुपये प्रदान किए थे। इसके लिए मैं बाबू आलोक प्रकाश साहू, जयचन्द्र लाल जी बामड़ा एवं पं० वंशीधर शास्त्री एम० ए० को हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ।

स्वभावतः मैं अधिक प्रमादी हूँ लेकिन गुरुजनों के आशीष से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है, ऐसी मेरी धारणा है।

मैं अल्पज्ञ बहुत दोषी हूँ—यह है ग्रंथ महान्।
मिथ्यालाप दुष्कृत्य करूं जो क्षमा करें विद्वान्॥

भूमिका

आचारांगसूत्र जैन-आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है, यह यद्यपि अर्धमागधी में लिखा गया प्राचीनतम ग्रन्थ है किन्तु इसके प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। जहाँ प्रथम श्रुतस्कन्ध में अर्धमागधी का प्राचीनतम रूप परिलक्षित होता है वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से परवर्ती और विकसित लगता है। यद्यपि आचारांग मूलतः अर्धमागधी प्राकृत का ग्रन्थ है किन्तु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है फिर भी प्रथम श्रुतस्कन्ध में यह प्रभाव नगण्य ही है। मेरी दृष्टि में इस प्रभाव का कारण मूलतः एक लम्बी अवधि तक इसका मौखिक बना रहना है। यह भी सम्भव है कि जो अंश स्पष्ट रूप से और सम्पूर्ण रूप से महाराष्ट्री के हैं वे बाद में जोड़े गये हों। यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है। फिर भी भाषा सम्बन्धी इस प्रभाव का कारण उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से ही है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मूलतः औपनिषदिक सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है जबकि दूसरा मुख्य रूप से विवरणात्मक और पद्यरूप में है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की जो भाषा है वह गद्य और पद्य दोनों से भिन्न है। यद्यपि प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी पद्य कुछ आ गये हैं फिर भी उसकी सूत्रात्मक शैली दूसरे श्रुतस्कन्ध की शैली से भिन्न है। हमें तो ऐसा लगता है कि प्राकृत ग्रन्थों की रचना में सर्वप्रथम आचारांग की प्रथम श्रुतस्कन्ध की सूत्रात्मक शैली का विकास हुआ, फिर सहज पद्य लिखे जाने लगे, फिर उसके बाद विकसित स्तर के गद्य लिखे गये। भाषा और शैली के विकास की दृष्टि से आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में लगभग तीन शताब्दियों का अन्तर तो अवश्य रहा होगा। आचारांग में आचार के सिद्धांतों और नियमों के लिये जिस मनोवैज्ञानिक आधारभूमि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है, वह तुलनात्मक अध्ययन के लिये अद्भुत आकर्षण का विषय है।

आचारांगसूत्र का प्रतिपाद्य विषय श्रमण-आचार का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। चूंकि मानवीय आचार मन और बुद्धि से निकट रूप से जुड़ा हुआ है, अतः यह स्वाभाविक है कि आचार के संबंध में कोई भी प्रामाणिक चिन्तन मनोवैज्ञानिक सत्यों को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता है। हमें क्या होना चाहिये—यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं और क्या हो सकते हैं? हमारी क्षमताएं एवं संभावनाएं क्या हैं? आचरण के किसी साध्य और सिद्धांत का निर्धारण साधक की मनोवैज्ञानिक प्रकृति को समझे बिना सम्भव नहीं है। हमें यह देखना है कि आचारांग में आचार के सिद्धांतों एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक इस दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया गया है।

अस्तित्व सम्बन्धी जिज्ञासा : मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न

आचारांगसूत्र के उत्थान में ही हमें उसकी दार्शनिक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। सूत्र का प्रारम्भ ही अस्तित्व सम्बन्धी मानवीय जिज्ञासा से होता है। पहला ही प्रश्न है—

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए।
के अहं आसी के वा इओ चुओ इहपेच्चा भविस्सामि॥

—१।१।१।३

इस जीवन के पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं अथवा इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं? मैं क्या था और मृत्यु के उपरान्त किस रूप में होऊँगा? यही अपने अस्तित्व का प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है, जिसे सूत्रकार ने सर्वप्रथम उठाया है। मनुष्य के लिये मूलभूत प्रश्न अपने अस्तित्व या सत्ता का ही है। धार्मिक एवं नैतिक चेतना का विकास भी इसी अस्तित्व-बोध या स्वरूप-बोध पर आधारित है। मनुष्य की जीवन दृष्टि क्या और कैसी होगी, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अपने अस्तित्व, अपनी सत्ता और स्वरूप के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म की सारी मान्यतायें अस्तित्व की धारणा पर ही खड़ी हुई हैं। इसीलिये सूत्रकार ने

कहा है कि जो इस "अस्तित्व" या स्व-सत्ता को जान लेता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। (सोहं से आयावाई लोगावाई कम्मवाई किरियावाई—१।१।१।४-५) व्यक्ति के लिये मूलभूत और सारभूत तत्त्व उसका अपना अस्तित्व ही है, और सत्ता या अस्तित्व के इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर ग्रंथकार ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी जिजीविषा और जिज्ञासा मानव की मूल प्रवृत्तियाँ मानी गयी हैं।

सत्य की खोज में सन्देह (दार्शनिक जिज्ञासा) का स्थान

यह कितना आश्चर्यजनक है कि आचारांग श्रद्धा के स्थान पर संशय को सत्य की खोज का एक आवश्यक चरण मानता है। संभवतया ऐसा प्रतीत होता है कि जैनधर्म के आरम्भिक काल में श्रद्धा का तत्त्व इतना प्रमुख नहीं था। आचारांग में "णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्ति मग्गं" (१।६।१) कहकर समाधि एवं प्रज्ञा के रूप में जिस मुक्ति मार्ग का विधान हुआ है, वह स्वयं इस बात का संकेत करता है कि उस समय तक दर्शन या सम्यग् दर्शन शब्द श्रद्धा का सूचक नहीं था। यद्यपि आचारांग में दंसण और सम्मतदंसी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु मेरी दृष्टि में कहीं भी इसका प्रयोग श्रद्धा के अर्थ में नहीं हुआ है। अधिक से अधिक ये शब्द "दृष्टिकोण" या "सिद्धान्त" के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं, जैसे—एयं पासगस्स दंसणं (१।३।४)। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी धार्मिक आन्दोलन में श्रद्धा का तत्त्व उसके परवर्ती युग में जबकि वह कुछ विचारों एवं मान्यताओं से आबद्ध हो जाता है, अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। आचारांग में संशय का जो स्थान स्वीकार किया गया है वह दार्शनिक दृष्टि से काफी उपयोगी है। मानवीय जिज्ञासावृत्ति को महत्त्व देते हुए तो यहाँ तक कहा गया है कि "संशय परिआगओ संसारे परिन्नये (१।५।१)" अर्थात् संशय के ज्ञान से ही संसार का ज्ञान होता है। आज समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में संशय (जिज्ञासा) की पद्धति को आवश्यक माना गया है। संशय की

पद्धति को आज एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञान के क्षेत्र मे प्रगति का यही एकमात्र मार्ग है, जिसे सूत्रकार ने पूरी तरह समझा है। ज्ञान के विकास की यात्रा सन्देह (जिज्ञासा)से ही प्रारम्भ होती है, क्योंकि संशय के स्थान पर श्रद्धा आ गयी तो विचार का द्वार ही बन्द हो जाएगा, वहाँ ज्ञान की प्रगति कैसे होगी ? संशय विचार के द्वार को उद्घाटित करता है। विचार या चिंतन से विवेक जागृत होता है, ज्ञान के नये आयाम प्रकट होने लगते हैं। आचारांग ज्ञान की विकास यात्रा के मूल में संदेह को स्वीकार करके चलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो यात्रा संदेह से प्रारम्भ होती है, अन्त में श्रद्धा तक पहुंच जाती है। अंतिम समाधान पाने पर संदेह की परिणति श्रद्धा में हो सकती है। इससे ठीक विपरीत समाधान-रहित अन्ध-श्रद्धा की परिणति संदेह में होगी। जो सन्देह से चलेगा अन्त में सत्य को पाकर श्रद्धा तक पहुंच जाएगा, जबकि जो श्रद्धा से प्रारम्भ करेगा वह या तो आगे कोई प्रगति ही नहीं करेगा या फिर उसकी श्रद्धा खण्डित होकर संदेह में परिणत हो जाएगी। यह है आचारांग की दार्शनिक दृष्टि का परिचय।

आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण

आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाये—१।५।५। इस प्रकार वह ज्ञान को आत्म-स्वभाव या आत्म-स्वरूप बताता है। जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के ज्ञान, अनुभूति और संकल्प ऐसे तीन लक्षण बताता है, वहाँ आचारांग केवल आत्मा के ज्ञान लक्षण पर बल देता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यही दोनों में अन्तर प्रतीत होता है, किन्तु अनुभूति (वेदना) और संकल्प यह दोनों लक्षण शरीराश्रित बद्धात्मा के हैं, अतः ज्ञान ही प्रथम लक्षण सिद्ध होता है। वैसे आचारांगसूत्र में तथा परवर्ती जैन ग्रंथों में भी मनोविज्ञान सम्मत इन तीनों लक्षणों को देखा जा सकता है, फिर भी आचारांगसूत्र का आत्मा के विज्ञाता स्वरूप पर बल देने का एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है, क्योंकि आत्मा की अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था

में पूर्णतः समभाव या समाधि की उपलब्धि सम्भव नहीं है, जब तक सुख-दुखात्मक वेदना की अनुभूति है या संकल्प-विकल्प का चक्र चल रहा है, आत्मा पर-भाव में स्थित होता है, चित्त समाधि नहीं रहती है। आत्मा का स्वरूप या स्वभाव धर्म तो समता है, जो केवल उसके ज्ञाता-द्रष्टा रूप में स्वरूपतः उपलब्ध होती है। वेदक और कर्ता रूप में वह स्वरूपतः उपलब्ध नहीं है।

मन का ज्ञान साधना का प्रथम चरण

निर्ग्रंथ साधक के लक्षणों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहता है—जे मणं परिजाणई से निग्गंथे जे मणे अपावए—२।१५।४५। जो मन जानता है और उसे अपवित्र नहीं होने देता है, वही निर्ग्रन्थ है, इस प्रकार निर्ग्रन्थ श्रमण की साधना का प्रथम चरण है मन को जानना और दूसरा चरण है मन को अपवित्र नहीं होने देना। मन की शुद्धि भी स्वयं मनोवृत्तियों के ज्ञान पर निर्भर है। मन को जानने का मतलब है अन्दर झांककर अपनी मनोवृत्तियों को पहचानना, मन की ग्रन्थियों को खोजना, यही साधना का प्रथम चरण है। रोग का ज्ञान और उसका निदान उससे छुटकारा पाने के लिये आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण विधि में भी मनोग्रंथियों से मुक्त होने के लिये उनका जानना आवश्यक माना गया है। अन्तर्दर्शन और मनोविश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण विधियाँ हैं, आचारांग में उन्हें निर्ग्रन्थ साधना का प्रथम चरण बताया गया है। वस्तुतः आचारांग की साधना अप्रमत्तता की साधना है और यह अप्रमत्तता अपनी चित्त-वृत्तियों के प्रति सतत जागरूकता है। चित्त वृत्तियों का दर्शन सम्यक् दर्शन है, स्वस्वभाव में रमना है। आधुनिक मनोविज्ञान जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिये मनोग्रन्थियों को तोड़ने की बात कहता है उसी प्रकार जैन दर्शन भी आत्मशुद्धि के लिए ग्रंथि-भेद की बात कहता है। ग्रंथि, ग्रंथि-भेद और निर्ग्रन्थ शब्दों के प्रयोग स्वयं आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। वस्तुतः ग्रन्थियों से मुक्ति ही साधना का लक्ष्य है—गंथेहिं विवत्तेहिं आउकालस्सपारए—१।८।८।११। जो ग्रन्थियों से रहित है वही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रंथ होने का अर्थ है, राग-द्वेष या आसक्ति

रूपी गांठ का खुल जाना। जीवन में अन्दर और बाहर से एकरूप हो जाना, मुखौटों की जिन्दगी से दूर हो जाना, क्योंकि ग्रन्थि का निर्माण होता है रागभाव से, आसक्ति से, मायाचार या मुखौटों की जिन्दगी से। इस प्रकार आचारांग एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करता है। आचारांग के अनुसार बंधन और मुक्ति के तत्त्व बाहरी नहीं, आन्तरिक हैं। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि—"बंधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव—" १।५।२। बंधन और मोक्ष हमारे अध्यवसायों किंवा मनोवृत्तियों पर निर्भर हैं। मानसिक बंधन ही वास्तविक बन्धन हैं। वे गांठें जिन्होंने हमें बांध रखा है, वे हमारे मन की ही गांठें हैं। वह स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि—"कामेसु गिद्धा निचयंकरेंति-" १।३।२। कामभोगों के प्रति आसक्ति से ही बंधन की सृष्टि होती है। वह गांठ जो हमें बांधती है, आसक्ति की गांठ है, ममत्व की गांठ है, अज्ञान की गांठ है। इस आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हिंसा व्यक्ति की और संसार की सारी पीड़ाओं का मूल स्रोत है। यही जीवन में नरक की सृष्टि करती है, जीवन को नारकीय बनाती है। एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए—१।१।२। आचारांग के अनुसार विषय भोग के प्रति जो आतुरता है, वही समस्त पीड़ाओं की जननी है (आतुरा परितावेंति—१।१।२) यहां हमें स्पष्ट रूप से विश्व की समस्त पीड़ाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि—"आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु—१।२।४। हे धीर पुरुष! विषय भोगों की आकांक्षा और तत्संबंधी संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। तुम स्वयं इस कांटे को अपने अन्तःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो। इस प्रकार आचारांग बंधन, पीड़ा या दुःख के प्रति एक आत्म-निष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वह कहता है—जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा (१।४।२) अर्थात् बाहर में जो बंधन के निमित्त हैं वे भी कभी मुक्ति के निमित्त बन जाते हैं। इसका आशय यही है कि बंधन और मुक्ति का सारा खेल साधक के अंतरंग भावों पर आधारित है। यदि इसी प्रश्न पर हम आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि

आधुनिक मनोविकृतियों के कारणों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि आकांक्षाओं का उच्चस्तर ही मन में कुण्ठाओं को उत्पन्न करता है और उन कुण्ठाओं के कारण मनोग्रन्थियों की रचना होती है, जो अन्ततोगत्वा व्यक्ति में मनोविकृतियों को उत्पन्न करती है।

मनोवृत्तियों की सापेक्षता

आचारांगसूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग (प्रेम), द्वेष, मोह आदि के परस्पर की सापेक्षता को सूचित करते हुए यह बताया गया है कि जो इनमें से किसी एक को भी सम्यक् प्रकार जान लेता है वह अन्य सभी को भी जान लेता है और जो एक पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, वह अन्य सभी पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। (जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ जे एगं नामे से बहुं नामे जे बहुं नामे से एगं नामे—१/३/४) आश्चर्य यही है कि अभी तक इन सूत्रों के तत्त्वमीमांसीय या ज्ञान-मीमांसीय अर्थ लगाये गये और इनके मनोवैज्ञानिक संदर्भ को ओझल किया गया, जबकि ये सूत्र विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक हैं, क्योंकि इस उद्देशक का सम्पूर्ण सन्दर्भ कषायों से सम्बन्धित है, जो मनोविज्ञान का विषय है। इन कषायों के दुश्चक्र से वही मुक्त हो सकता है, जो अप्रमत्त चेता है, क्योंकि जैसे ही व्यक्ति इनके प्रति सजग बनता है, इनके कारणों और परिणामों को देखने लगता है, वह मनोवृत्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होते हुए पाता है। जब व्यक्ति क्रोध को देखता है, तो क्रोध के कारणभूत द्वेषभाव और द्वेष के कारणभूत रागभाव को भी देख लेता है। जब वह अहं या मान का द्रष्टा बनता है, तो अहं की तुष्टि के लिये मायावी मुखौटों का जीवन भी उसके सामने स्पष्ट हो जाता है। सूत्रकार ने पूरी स्पष्टता के साथ इस बात को प्रस्तुत किया कि किस प्रकार किसी एक मनोवृत्ति (कषाय) का द्रष्टा दूसरी सभी सापेक्ष रूप में रही हुई मनोवृत्तियों का द्रष्टा बन जाता है। वह कहता है—जो क्रोध को देखता है, वह मान (अहंकार) को देख लेता है। जो मान को देखता है वह माया (कपटवृत्ति) को देख लेता है। जो माया को देखता है वह लोभ को देख लेता है। जो

लोभ को देखता है वह राग-द्वेष को देख लेता है। जो राग द्वेष को देखता है, वह मोह (अविद्या) को देख लेता है, और जो मोह को देखता है वह गर्भ (भावी जन्म) को देखता है और जो गर्भ को देखता है वह जन्म-मरण की प्रक्रिया को देख लेता है। इस प्रकार एक कषाय का सम्यक् विश्लेषण उससे संबंधित अन्य कषायों का तथा उनके परिणामों और कारणों का सम्यक् बोध करा देता है (१।३।४); क्योंकि सभी मनोवृत्तियाँ परस्पर सापेक्ष होकर रहती हैं। जहाँ मोह होता है वहाँ राग-द्वेष होते हैं वहाँ लोभ होता ही है। जहाँ लोभ-वृत्ति होती है वहाँ माया या कपटाचार आ ही जाता है। जहाँ कपटाचार होता है वहाँ उसके पीछे मान या अहंकार का प्रश्न जुड़ा रहता है और जहाँ मान या अहंकार होता है उसके साथ क्रोध जुड़ा रहता है। राग के बिना द्वेष का और द्वेष के बिना राग का टिकाव नहीं है। इसी प्रकार क्रोध का टिकाव अहंकार पर और अहंकार का टिकाव मायाचार पर, मायाचार का टिकाव लोभ पर निर्भर करता है। कोई भी कषाय दूसरी कषाय से पूरी तरह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकती है, अतः किसी एक कषाय का समग्र भाव से विजेता सभी कषायों का विजेता बन जाता है और एक का द्रष्टा सभी का द्रष्टा बन जाता है।

कषाय विजय उपाय : द्रष्टा या साक्षीभाव

आचारांग में मुनि और अमुनि का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जो सोता है, वह अमुनि है, जो जागता है वह मुनि है। यहाँ जागने का तात्पर्य है अपने प्रति, अपनी मनोवृत्तियों के प्रति सजग होना या अप्रमत्तचेता होना है। प्रश्न हो सकता है कि अप्रमत्तचेता या सजग होना क्यों आवश्यक है? वस्तुतः जब व्यक्ति अपने अन्तर में झांककर अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनता है तो दुर्विचार और दुष्प्रवृत्तियाँ स्वयं विलीन होती जाती हैं। जब घर का मालिक जागता है, चोर प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार जो साधक सजग है, अप्रमत्त है, तो उनमें कषायें पनप नहीं सकतीं, क्योंकि कषाय स्वयं प्रमाद है, तथा प्रमाद और अप्रमाद एक साथ नहीं रह सकते हैं। अतः अप्रमाद होने पर कषाय पनप नहीं सकते।

आचारांगसूत्र में बार-बार कहा गया है,—'तू देख' 'तू देख' (पास ! पास !) यहाँ देखने का तात्पर्य है अपने प्रति या अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होना। क्योंकि जो द्रष्टा है, वही निरुपाधिक दशा को प्राप्त हो सकता है (किमरिय उवाही पासगस्स, ण विज्जइ ? नत्थि ९।३।४)।

वस्तुतः आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होती है, संसार के समस्त पदार्थ ही नहीं वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियाँ और मनोभाव भी उसे 'पर' (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं। जब वह 'पर' को पर' के रूप में जान लेता है और उससे अपनी पृथकता का बोध कर लेता है, तब वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है, यही वह अवसर होता है, जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योंकि जिसने 'पर' को 'पर' के रूप में जान लिया है उसके लिए ममत्व या राग के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता है। राग के गिर जाने पर वीतरागता का प्रकटन होता है, और मुक्ति का द्वारा खुल जाता है।

मन के पवित्रीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि

चित्त को अपवित्र नहीं होने देने के लिये मन की वृत्तियों को देखना जरूरी है, क्योंकि यह मन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता की दो भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए वह अपने क्रोध का कर्ता एवं द्रष्टा एक साथ नहीं हो सकता। मन जब कर्ता से द्रष्टा की भूमिका में आता है तो मनोविकार स्वयं विलीन होने लगते हैं। मन तो स्वतः ही वासना और विकार से मुक्त हो जाता है। इसलिये कहा गया है—अप्पमत्तो कामेहिं उवरतो—१/२/१। सव्वतो पमत्तस्स भयं···अप्पमत्तस्स नत्थि भयं—१/३/४। जो अप्रमत्त है वह कामनाओं से और पाप कर्मों से उपरत है, प्रमत्त को ही विषय-विकार में फँसने का भय है अप्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तता या सम्यक् द्रष्टा की अवस्था में पापकर्म असम्भव हो जाता है, इसीलिये कहा गया है—सम्मत्तदंसी न करेइ पावं—१/३/२ अर्थात् सम्यक् द्रष्टा कोई पाप नहीं करता है।

आचारांग में मन को जानने अथवा अप्रमत्त चेतना की जो बात बार-बार कही गई है, वह मन को वासनामुक्त करने का या मन के पवित्रीकरण का एक ऐसा उपाय है जिसकी प्रामाणिकता आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। जब साधक अप्रमत्त चेतना से युक्त होकर द्रष्टाभाव में स्थित होता है तब सारी वासनायें और सारे आवेग स्वतः शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र यह कहकर कि "आयंकदंसी न करेइ पावं (१।३।२)" पुनः एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया गया है। जो अपनी पीड़ा या वेदना को देख लेता है, उसके लिये पाप कर्म में फंसना एक मनोवैज्ञानिक असम्भावना बन जाती है। जब व्यक्ति पापकर्म या हिंसा जनित पीड़ा का स्वयं आत्मनिष्ठ रूप में अनुभव करता है, हिंसा करना उसके लिये असम्भव हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार पाप से विरत होने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्यों पर अधिष्ठित पद्धति प्रस्तुत करता है।

धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आचारांग में अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा को मोक्षमार्ग कहा गया है। इसमें अहिंसा को पूर्ण स्थान दिया गया है। यहाँ साधना का क्रम अन्दर से बाहर की ओर न होकर बाहर से अन्दर की ओर है, जो अधिक मनोवैज्ञानिक है। अहिंसा की साधना के द्वारा जब तक परिवेश एवं चित्तवृत्ति निराकुल नहीं बनेगी, समाधि नहीं होगी और जब तक समाधि नहीं आवेगी प्रज्ञा का उदय नहीं होगा। इस सन्दर्भ में आचारांग के दृष्टिकोण में और परवर्ती जैन दर्शन के दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है। वह आचार शुद्धि से विचार शुद्धि की ओर बढ़ता है।

आचारांग में धर्म क्या है? इसके दो निर्देश हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में अहिंसा को शाश्वत, नित्य और शुद्ध धर्म कहा गया है, (सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा···एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए—१।४।१) और प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय के तीसरे उद्देशक में समता को धर्म कहा गया है, समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए (१।८।३) वस्तुतः धर्म की ये दो

व्याख्याएँ दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अहिंसा व्यावहारिक समाज सापेक्ष धर्म है, जबकि वैयक्तिक एवं आन्तरिक दृष्टि से समभाव ही धर्म है। सैद्धांतिक दृष्टि से अहिंसा और समभाव में अभेद है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग हैं। समभाव की बाह्य अभिव्यक्ति अहिंसा बन जाती है और यही अहिंसा जब स्वकेन्द्रित (स्वदया) होती है तो समभाव बन जाती है।

समत्व या समता धर्म क्यों ?

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि समता को धर्म क्यों माना जावे ? जैन परम्परा के परवर्ती ग्रन्थों में धर्म की व्याख्या 'वत्थु सहावो धम्मो' के रूप में की गई है, अतः समता को तभी धर्म माना जा सकता है जबकि वह प्राणीय स्वभाव सिद्ध हो आयें, जरा इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें।

जैन दर्शन में मानव प्रकृति एवं प्राणीय प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है ? आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है ? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था—आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है (आयाए सामाइए आया सामाइस्स अट्ठे—भगवतीसूत्र)। वस्तुतः जहां भी जीवन है, चेतना है, वहां समत्व के संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिये प्रयासशील बने, यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'जीवन गतिशील सन्तुलन है।' (जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २५९)। स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस संतुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह संतुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है (फर्स्ट प्रिंसिपल्स—स्पेन्सर, पृष्ठ ६६)। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिये संघर्ष कहा है, किन्तु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिये संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का

प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

इस प्रकार जैन दर्शन में समभाव या वीतराग दशा को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही जीवन का आदर्श हो सकता है क्योंकि यही हमारा स्वभाव है और जो स्व स्वभाव है वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन एवं आर्म्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है। यदि हम इसे कसौटी पर कसें तो संघर्ष एवं तनाव जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य-स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है। किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है, संघर्ष मिटाने के लिए होता है! जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है, संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है तो वह उसके दोषों का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की साधना है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं।

संघर्ष अथवा समत्व से विचलन जीवन में पाये जाते हैं, लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनको समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समता की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी मानसिक असंतुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। अतः आचारांग में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासनाशून्य, वितर्कशून्य, निष्काम, अनासक्त, वीतराग

अवस्था ही जीवन का आदर्श है क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं, अतः उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुतः समत्व की उपलब्धि आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य मानी जा सकती है और जो जीवन का साध्य एवं स्वभाव हो, वही धर्म कहा जा सकता है। आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है कि जो समता को जानता है वही मुनि धर्म को जानता है।

आचारांग में अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांग में अहिंसा के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा को आर्हत-प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है।

सर्वप्रथम हमें विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जावे। सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है (सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुक्खपडिकूला –१।२।३), अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मेकेंजी ने "भय" को अहिंसा का आधार माना है, किन्तु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि भय के सिद्धान्त को यदि अहिंसा का आधार बनाया जायेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होना उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी, जबकि आचारांग तो प्राणियों के प्रति यहाँ तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है, अतः आचारांग में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः अहिंसा को इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ-साथ तुल्यता बोध के बौद्धिक सिद्धांत पर खड़ा किया गया। वहाँ कहा गया है

कि जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ'' एयं तुल्लमन्नेसिं'— १।१।७ जो अपनी पीड़ा को जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है। यह प्राणीय पीड़ा की तुल्यता बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धांत को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास स्वरूप यहां तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है, वह तू ही है (आचारांग, १।५।५)। आगे कहता है कि जो लोग (लोक) का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांग, १।१।३)। यहां अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा सम्बन्धी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता सा प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति पर बुद्धि है, परायेपन का भाव है, तब तक हिंसा की सम्भावनायें उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असम्भव हो सकती है जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय दृष्टि जागृत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक ओर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है कि हिंसा से हिंसा या घृणा से घृणा का निराकरण सम्भव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है— शस्त्रों के आधार पर या भय और हिंसा के आधार पर शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा सम्भव है। शांति की स्थापना तो अहिंसा या प्रेम द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर कुछ अन्य नहीं है (आचारांग, १।३।४)।

आचारांग में मानवीय व्यवहार के प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया राग और द्वेष ये दो कर्म बीज माने गये हैं, किन्तु

इनमें भी राग ही प्रमुख तथ्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तथ्य है (१।३।२)। आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है। फिर भी आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहाँ फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं, वहीं दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मानी है। फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया निम्न १४ मूल प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—

१. पलायनवृत्ति (भय) २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्मगौरव (मान), ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। आचारांगसूत्र में भय, द्वेष, जिज्ञासा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, आत्मीयता, हास्य आदि का यत्र-तत्र बिखरा हुआ उल्लेख उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त हिंसा के कारणों का निर्देश करते हुए कुछ कर्म-प्रेरकों का उल्लेख उपलब्ध है। यथा जीवन जीने के लिये, प्रशंसा और मान-सम्मान पाने के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की निवृत्ति हेतु प्राणी हिंसा करता है (१।१।४)।

आचारांग का सुखवादी दृष्टिकोण

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह भी बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवन शक्ति को बनाये रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। आचारांग भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करता है (आचारांग, १।२।३)। अनुकूल के प्रति आकर्षण

और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण, यह इन्द्रिय स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति, प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है। वस्तुतः प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है, जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं।

दमन का प्रत्यक्ष और आचारांग

सामान्यतया आचारांग में इंद्रिय संयम पर काफी बल दिया गया है। वह तो शरीर को सुखा डालने की बात भी कहता है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण इन्द्रिय-निरोध सम्भव है? आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्द्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आंख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है तो वह उसके सौन्दर्य दर्शन से वंचित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह विचारणीय प्रश्न है कि इन्द्रिय दमन के सम्बन्ध में क्या आचारांग का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? आचारांग इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही कहता है कि इन्द्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं, वरन् विषय-सेवन के मूल में जो निहित राग-द्वेष हैं उन्हें समाप्त करना है। इस सम्बन्ध में उसमें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि आंखों के सामने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाये अतः रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि नासिका के समक्ष आया हुआ सुगन्ध सूंघने में न आए अतः गन्ध का नहीं, किन्तु गन्ध

के प्रति आने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आये। अतः रस का नहीं, किन्तु रस के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिये। यह शक्य नहीं है कि शरीर से संपर्क होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो। अतः स्पर्श नहीं, किन्तु स्पर्श के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिये (आचारांग २।१५।१०१-१०५)। उत्तराध्ययन में भी इसकी पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि इन्द्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए राग-द्वेष के कारण नहीं होते हैं। ये विषय रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बंधन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के बंधन या दुःख का कारण नहीं हो सकते। काम-भोग न किसी को बंधन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है (उत्तराध्ययन ३२।१००-१०१)।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है। औपशमिक मार्ग का अर्थ वासनाओं का दमन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में यह दमन का मार्ग है, जबकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है। वह वासनाओं से ऊपर उठाता है। यह दमन नहीं, अपितु चित्त विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गन्दगी को ढकने मात्र में है और जैन दर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में यह स्पष्ट रूप से बताया है कि वासनाओं को दबाकर आगे वाली साधना विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यतया पदच्युत हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उसके अनुसार साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु उनसे ऊपर उठ जाना है। वह इन्द्रिय निग्रह नहीं, अपितु ऐन्द्रिक अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

अतः यह स्पष्ट है कि आचारांगसूत्र अपनी विवेचनाओं में मनो-

वैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उत्तम आचार के जो नियम-उपनियम बनाये गये हैं, वे भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं, किन्तु यहाँ उन सबकी गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि इस सम्पूर्ण विवेचना का यह अर्थ भी नहीं है कि आचारांग में जो कुछ कहा गया, वह सभी मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित है। अहिंसा, समता और अनासक्ति के जो आदर्श उसमें प्रस्तुत किये गए हैं, वे चाहे मनोवैज्ञानिक आधारों पर अधिष्ठित हों, किन्तु उनकी जीवन में पूर्ण उपलब्धि की संभावनाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही प्रश्न चिह्न भी लगाया जा सकता है। ये आदर्श के रूप में चाहे कितने ही सुहावने हों, किन्तु मानव जीवन में इनकी व्यावहारिक सम्भावना कितनी है, यह विवाद का विषय बन सकता है। फिर भी मानवीय-दुर्बलता के आधार पर उनसे विमुख होना उचित नहीं होगा। क्योंकि इनके द्वारा ही न केवल मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होगा, अपितु लोक मंगल की भावना भी साकार बन सकेगी।

आचारांग में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं कि आचारांग मूलतः दर्शन का ग्रन्थ न होकर आचार शास्त्र का ग्रंथ है फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें दर्शन के तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। आचारांग का प्रारम्भ ही एक पारिणामिक नित्य आत्मा की अवधारणा से होती है। आचारांग आत्मा और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करके चलता है। वह कर्म की अवधारणा को भी स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि कर्म ही बन्धन के कारण हैं। यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो उसमें कर्म को पौद्गलिक मानकर कर्म शरीर का भी उल्लेख किया गया है, और साधक को कहा गया है कि वह कर्म शरीर का ही विधूनन करे। इसी प्रकार आचारांग में आश्रव, संवर और प्राकारान्तरा से निर्जरा की व्यवस्थायें भी उपलब्ध हो जाती हैं। आचारांग मुक्तात्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप की भी औपनिषदिक शैली में व्याख्या करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि संक्षेप में आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म,

बन्धन, आश्रव, संवर, निर्जरा और मुक्ति इन सब अवधारणाओं को चाहे संक्षेप में ही क्यों न हो स्वीकार करके चलता है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचारांग, दर्शन के सम्बन्ध में केवल इन्हीं तथ्यों को रखना चाहता है जो उसके आचार शास्त्र के पूर्व मान्यता के लिए अपरिहार्य हैं। जैनधर्म का जो विकसित तत्वज्ञान है उसका उसमें अभाव ही देखा जाता है, जीव और पुद्गल को छोड़कर आकाश, धर्म, अधर्म और काल की उसमें कोई स्वतन्त्र व्याख्या नहीं है।

आचारांग के आचार-नियम

जहाँ तक आचारांग में प्रतिपादित आचार नियमों का प्रश्न है मूलतः वे सभी नियम अहिंसा को केन्द्र में रखकर बनाये गये हैं। आचारांग के आचार नियमों का केन्द्रबिन्दु अहिंसा का परिपालन ही है। जीवन में अहिंसा और अनाशक्ति को किस चरमसीमा तक अपनाया जा सकता है इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों में जहाँ प्रथम श्रुतस्कन्ध आचार के सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति तथा कषायों और वासनाओं के विजय का सूत्र रूप में संकेत किया गया है। जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में इनसे ऊपर उठकर कैसा जीवन जीया जा सकता है इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कन्ध मूलतः मुनि जीवन की भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाय इसका विस्तार से विवेचन करता है। इस श्रुतस्कन्ध का अन्तिम भाग जहाँ एक ओर महावीर का जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है वहीं दूसरी ओर वह इन्द्रिय विजय की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालता है। यद्यपि आचारांग का आचारपक्ष व्यावहारिक दृष्टि से कठोर कहा जा सकता है, किन्तु उसमें साधना के जिस आदर्श स्वरूप का चित्रण है उसके मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

—डा० सागरमल जैन

विषय-सूची

लेखकीय ङ
भूमिका ट

अध्याय १ : जैन आगम साहित्य में आचारांग सूत्र १-३९

आगम परिचय १; आगमों का वर्गीकरण ३; श्रुत सम्पत्ति की परम्परा ४; अंग ५, आचारांग ६; नामान्तर ७; आचारांग का विषय ८; आचारांग का महत्व ९; परिमाण ११; चूलिका १३; मंगल वाक्य १४; ग्रन्थारम्भ १४; उद्देशकों का प्रारम्भ एवं अन्त १५

प्रथम श्रुतस्कन्ध—ब्रह्मचर्य १६; आगमों की वाचनाएँ १७; आचारांग के रचना-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत २०

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का रचनाकाल २१, दोनों श्रुतस्कन्धों में अन्तर २१, चूलिका विभाजन २१, विषय-निरूपण २१, मंगल-वाक्य २२, निर्युक्तिकार का वक्तव्य २२, यूरोपीय विद्वानों का मत २३, पं० दलसुख मालवणिया का मत २३, डा० दवे का मत २४, पाँचवी चूला का संयोजन २४, शीलांक के मत के उल्लेखानुसार समय-सीमा का निर्णय २५,

व्याख्या साहित्य २६, निर्युक्ति २७, निर्युक्ति शब्द का अर्थ २७, विषय-वस्तु २७, चूर्णि २९, शीलांकसूरिकृत टीका ३०, अन्य टीकाएँ ३२

महापरिज्ञा अध्ययन के विच्छेद का विचार ३३, अध्ययनाधिकार ३३, उद्देशाधिकार ३४, अर्थाधिकार ३४, विषयाधिकार ३५, परम्परा से मान्यता प्राप्त मत ३५, शास्त्रीय मत ३६, विद्वानों के मत ३६, समीक्षा ३७, परम्परा से प्राप्त मत की समीक्षा ३७, शास्त्रीय मत की समीक्षा ३७, प्रो० याकोबी के मत की समीक्षा ३८, पं० दलसुख मालवणिया के मत की समीक्षा और उपसंहार ३९

अध्याय २ : आचारांग की विषयवस्तु ४०-७१
अध्ययन क्रमानुसार विषय-परिचय ४१

प्रथम श्रुतस्कन्ध ४१

प्रथम अध्ययन : शस्त्र परिज्ञा ४१

प्रथम उद्देशक (आत्मवादी कौन) ४२; द्वितीय उद्देशक (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश) ४२; तृतीय उद्देशक (अप्कायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश) ४२; चतुर्थ उद्देशक (अग्निकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश) ४२; पंचम उद्देशक (वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश) ४३; षष्ठ उद्देशक (त्रसकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश) ४३; सप्तम उद्देशक (वायुकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश) ४३

द्वितीय अध्ययन : लोक-विजय ४४

प्रथम उद्देशक (मोह-त्याग) ४५; द्वितीय उद्देशक (संयम) ४५; तृतीय उद्देशक (मानत्याग) ४५; चतुर्थ उद्देशक (विषय-त्याग) ४५; पंचम उद्देशक (ममता के त्याग का फल) ४६; षष्ठ उद्देशक (मुनि का उपदेश) ४६

तृतीय अध्ययन : शीतोष्ण ४६

प्रथम उद्देशक (मुक्ति के साधन) ४७; द्वितीय उद्देशक (संयम) ४८; तृतीय उद्देशक (स्वावलम्बन) ४८; चतुर्थ उद्देशक (मोक्षाधिकारी) ४८

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व ४९

प्रथम उद्देशक (अहिंसा) ४९; द्वितीय उद्देशक (आस्रव और निर्जरा की भावाधीनता) ४९; तृतीय उद्देशक (कषाय-निग्रह) ५०; चतुर्थ उद्देशक (संयम) ५०

पंचम अध्ययन (लोकसार) ५०

प्रथम उद्देशक (अज्ञानता) ५१; द्वितीय उद्देशक (मुनि के कर्तव्य) ५१; तृतीय उद्देशक (साम्यभाव) ५१; चतुर्थ उद्देशक (संघ की आवश्यकता) ५२; पंचम उद्देशक (ज्ञानस्वभावी आत्मा) ५२; षष्ठ उद्देशक (मुक्त बीज) ५२

षष्ठ अध्ययन : धूत ५३

प्रथम उद्देशक (त्याग) ५३; द्वितीय उद्देशक (मुनि के कर्तव्य) ५४; तृतीय उद्देशक (देह-दमन) ५४; चतुर्थ उद्देशक (विषय त्याग) ५४; पंचम उद्देशक (मुक्ति की साधना) ५४

सप्तम अध्ययन : महापरिज्ञा ५५

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष ५५

प्रथम उद्देशक (त्रियाम—तीन महाव्रत) ५६; द्वितीय उद्देशक (अनुद्दिष्टता) ५७; तृतीय उद्देशक (समता के साधन) ५७; चतुर्थ उद्देशक (वस्त्र) ५७; पंचम उद्देशक (स्वावलम्बन) ५७; षष्ठ उद्देशक (सहनशीलता) ५८; सप्तम उद्देशक (निर्वस्त्रता की ओर प्रवृत्ति—अचेल भिक्षु) ५८ अष्टम उद्देशक (समाधिमरण) ५८

नवम अध्ययन : उपधान श्रुत ५८

प्रथम उद्देशक (वीर का वैराग्य) ५९; द्वितीय उद्देशक (विहार) ६०; तृतीय उद्देशक (उपसर्ग) ६०; चतुर्थ उद्देशक (वीर की तपस्या ६०)

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

प्रथम चूलिका ६१

प्रथम अध्ययन : पिण्डैषणा. ६१

प्रथम उद्देशक [शुद्ध आहार] ६२; द्वितीय उद्देशक [अनाहार] ६२; तृतीय उद्देशक [मादक पदार्थों की असेव्यता] ६२; चतुर्थ उद्देशक [सुस्वादु भोजन की लालसा का त्याग] ६२; पंचम उद्देशक [सामूहिक भोजन] ६२; षष्ठ उद्देशक [अग्राह्य आहार] ६३; सप्तम उद्देशक [अनुपादेय भोजन] ६३; अष्टम उद्देशक [अस्वीकार्य आहार] ६३; नवम उद्देशक [दूसरे का भोजन] ६३; दशम उद्देशक [हेय पदार्थ] ६३, एकादश उद्देशक [सात नियम] ६४

द्वितीय अध्ययन : शय्या ६४

प्रथम उद्देशक [वसति के उद्गम दोष] ६५, द्वितीय उद्देशक [शय्या विवेक] ६५; तृतीय उद्देशक [उद्गमादि दोष परिहार] ६५;

तृतीय अध्ययन : ईर्येषणा ६५
प्रथम उद्देशक [वर्षावास-विहारचर्या] ६५, द्वितीय उद्देशक [विविध यातनाएँ] ६६, तृतीय उद्देशक [विहार यात्रा सम्बन्धी नियम] ६६

चतुर्थ अध्ययन : भाषा विवेक ६६
प्रथम उद्देशक [वचन विभक्ति तथा भाषा के विधि निषेध] ६६, द्वितीय उद्देशक [भाषा-विवेक] ६६

पंचम अध्ययन : वस्त्रैषणा ६७
प्रथम उद्देशक [वस्त्र ग्रहण विधि] ६७, द्वितीय उद्देशक [वस्त्र धारण विधि] ६७

षष्ठ अध्ययन : पात्रैषणा ६७
सप्तम अध्ययन : अवग्रहेषणा ६८
प्रथम उद्देशक [अवग्रह की अनिवार्यता तथा प्रकार] ६८,
द्वितीय उद्देशक [स्थानादि की याचना विधि] ६८

द्वितीय चूलिका

अष्टम अध्ययन	:	स्थान	६८
नवम अध्ययन	:	निषीधिका	६९
दशम अध्ययन	:	उच्चार प्रस्रवण	६९
एकादश अध्ययन	:	शब्द	६९
द्वादश अध्ययन	:	रूप	७०
त्रयोदश अध्ययन	:	परक्रिया	७०
चतुर्दश अध्ययन	:	अन्योन्य क्रिया	७०

तृतीय चूलिका

पंचदश अध्ययन	:	भावना	७१

चतुर्थ चूलिका ७१

षोडश अध्ययन	:	विमुक्ति	७१

अध्याय ३ : आचारांग की भाषा-शैली ७२-९८
शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता ७२, अर्थ-गाम्भीर्य ७२, गद्य और पद्य का मिश्रण ७३,

शैली समीक्षा ७३, प्रश्नोत्तर शैली ७५, रहस्यात्मक शैली ७६, विरोधी शब्द ७७, सूक्ति भण्डार ७८, आत्म जागरण ७८, अहिंसा ७८, आवर्त (संसार), ७९, महावीथि ७९, सामान्य ७९, शब्द प्रयोग की विशिष्ट परम्परा ८० आचारांग का शब्द भण्डार ८२, ध्वनि-परिवर्तन की विभिन्न दिशाएं ८३, व्याकरण संबंधी नियम और आचारांग ८५, प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा की तुलना ८७, आचारांग का साहित्यिक पक्ष ९१, बुद्धि तत्त्व ९७, भावना तत्त्व ९१, कल्पना तत्त्व ९२, शैली ९३, अलंकार ९४, रसाभिव्यक्ति ९७

अध्याय ४ : आचारांग में समाज और संस्कृति ९९–१११
साधु समाज ९९, गृहस्थ १००, जाति व कुल १००, पारस्परिक सहयोग १०२, प्रथा व मान्यतायें १०२, भोज १०३, भोजन १०४, निवास १०५, मकान १०६, वस्त्राभूषण १०६, विवाह १०७, रोग व उपचार १०८, मनोरंजन १०८, शिकार १०९, व्यापार १०९, युद्ध व शासन ११०, अपराध व दण्ड ११०, कला ११०

अध्याय ५ : आचारांग में शासन-व्यवस्था ११२-१२१
अराजक राज्य ११२, अराजक राज्य के आधार ११४, अराजक राज्य की विफलता ११४, गणराज्य ११५, यौवराज्य ११८, द्वैराज्य ११९, वैराज्य १२०, विरुद्ध राज्य १२१

अध्याय ६ : आचारांग का दार्शनिक पक्ष १२२–१३२
जीव १२४, पुद्गल १२८, धर्म और अधर्म द्रव्य १२८, आकाश द्रव्य १२९, काल १२९, सप्त तत्त्व १२९, बन्ध १३०, संवर तत्त्व १३१ निर्जरा तत्त्व १३१, मोक्ष तत्त्व १३२

अध्याय ७ : आचारांग में प्रतिपादित धर्म साधना १३३-१५६
आचारांग की साधना के मूल तत्त्व १३३, धर्म का तात्पर्य १३५, समता १३५, संयम १३७, तपश्चर्या १३९, अहिंसा १४०, सत्य महाव्रत १४३, अचौर्य महाव्रत १४४, ब्रह्मचर्य महाव्रत १४६,

स्त्री सम्बन्धी नियम १४७, अपरिग्रह १४८, समिति १५०, भोजन १५२, खाद्याखाद्य विवेक १५२, निर्ग्रन्थ संघ और अहिंसा १५२, भिक्षाचर्या १५५

अध्याय ८ : भगवान् महावीर का जीवन १५७-१७७

गर्भापहार १५८, पुरातत्व में गर्भ परिवर्तन १५८, समीक्षा १६२, जन्म १६२, नामकरण १६३, जन्म स्थान १६४, प्रव्रज्या १६५, तपस्या और ज्ञानलाभ १६५, भगवान् महावीर का निर्वाण काल १६७

१ | जैन आगम साहित्य में आचारांग सूत्र

आगम परिचय

जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम भाग 'द्वादशांग' के नाम से विख्यात है।[१] भगवान् महावीर (ई० पू० छठी शताब्दी) ने जो व्याख्यात्मक उपदेश दिये थे उन्हीं उपदेशों को उनके प्रधान शिष्यों (गणधरों) ने सुनकर बारह 'अंग' ग्रन्थों में निबद्ध किया। उनकी संख्या बारह होने से उन्हें 'द्वादशांग' कहा गया। द्वादशांग के अतिरिक्त जो गणधरों के उत्तरवर्ती श्रुतज्ञ शिष्यों द्वारा रचित आगम साहित्य है उसे 'अंगबाह्य' आगम कहा गया है।[२] साक्षात् महावीर के प्रधान शिष्यों (गणधरों) द्वारा शब्द रूप में रचित होने से 'अंग' आगम महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इन्हें बौद्धों के 'त्रिपिटक' की तरह 'गणिपिटक' तथा ब्राह्मणों के 'वेदों' की तरह 'वेद' भी कहा गया है।[३] इस तरह द्वादशांग अर्थरूप से भगवान् महावीरप्रणीत होकर शब्दरूप से गणधरप्रणीत हैं।[४] इन बारह अंग-ग्रन्थों में आचारांग प्रमुख तथा प्रथम स्थानीय है।

जैन आगम को महावीर के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रामाणिक प्रतिपादक होने से 'सिद्धान्त' या 'समय' तथा तीर्थंकरों की वाणी का संग्रह होने से 'श्रुतज्ञान' भी कहा जाता है।[५] जैन आगमों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इन पाँच ज्ञानों का उल्लेख मिलता है।

---

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ५१.

२. तत्त्वार्थवार्तिक, १।२०।१३.

३. दुवालसंगे गणिपिडगे। समवायाङ्ग सूत्र १ तथा १३६.

४. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्य हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई॥

आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १९२.

५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना, पृष्ठ ३१.

इनमें से प्रथम दो ज्ञान (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान) परोक्ष (इन्द्रियादि-सापेक्ष) माने जाते हैं तथा शेष तीन ज्ञान (अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान और केवलज्ञान) प्रत्यक्ष (इन्द्रियादि-निरपेक्ष)।[१] इन पाँचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान को विशेष उपकारी माना जाता है क्योंकि तीर्थंकरों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का परिज्ञान इसी के द्वारा होता है। 'श्रुत' (श्रु+क्त) का सामान्य अर्थ है 'सुना हुआ' या 'कर्णगोचर'। आगम के सन्दर्भ में जो 'श्रुत' शब्द का प्रयोग है वह 'तीर्थङ्कर की सुनी हुई वाणी' के अर्थ में है। वैदिक एवं बौद्ध ग्रन्थों में भी आगम के अर्थ में 'श्रुत' शब्द का प्रयोग मिलता है।[२] 'श्रु' धातु से भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'श्रुतिः' शब्द बनता है। इस 'श्रुति' का ही 'वेद' के अर्थ में प्रयोग मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में 'सुतं' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ का बोधक है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति की तीनों धाराओं में आगम के लिए 'श्रुत', 'श्रुति' 'सूयं', 'सुतं', आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में उन्हें शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा द्वारा सुनकर स्मरण रखा जाता था। यही कारण है कि 'सुयं मे आउसं। तेण भगवया एवमक्खायं'[३] इन शब्दों से आगम ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के वाङ्मय में जैनश्रुत का द्वादशांगी के रूप से निर्देश समान रूप से होने पर भी श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग आदि ११ अंग ग्रन्थों की और दिगम्बर परम्परा में १२वें दृष्टिवाद अंग के एक भाग चौदह पूर्वों की विशेष प्रसिद्धि है।[४] मुनि या तो सामायिक आदि ११ अंग पढ़ता था[५] या चतुर्दश पूर्व पढ़ता था।[६]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।९-११.
२. संस्कृत-हिन्दी-कोश, आप्टे, पृ० १०३८.
३. आचारांगसूत्र, १.
४. षट्खंडागम, खण्ड १, पृ० ९; समवायांग, पृ० १०६, सूत्र १३६; नन्दीसूत्र ९४.
५. भगवती ११।११; ज्ञाताधर्मकथा, अ० १२.
६. भगवती ११।११, १७।८२; ज्ञाताधर्मकथा, अ० ५.

आगमों का वर्गीकरण

सामान्य रूप से जैन आगम के ४६ प्रकार हैं—१२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र और ६ मूलसूत्र। इनमें से बारहवें अंग दृष्टिवाद का उच्छेद मान लेने पर ४५ आगम ग्रन्थों की परम्परा है। दिगम्बर परम्परा में २६ आगमों की मान्यता है।[1]

श्रुतज्ञान के कई प्रकार से भेद किये जाते हैं। नन्दीसूत्र[2] में १४ भेद गिनाये गये हैं, जबकि कम्मविवाग[3] में २०। वैसे इसके दो विभाग मुख्य रूप से माने जाते हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट के १२ भेद किये गये हैं, इसलिए ये द्वादशांगी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ श्रुतपुरुष के बारह अंग हैं—२ पैर, २ जंघा, २ उरु, १ पेट, १ पीठ, २ बाहु, १ ग्रीवा और १ सिर। ये श्रुत पुरुष के १२ अंग माने गये हैं।[4] आचारांग और सूत्रकृतांग ये प्रथम दो अंगग्रन्थ श्रुतपुरुष के पैर हैं और बारहवाँ अंग दृष्टिवाद सिर।[5] अंगबाह्य को चार भागों में विभक्त किया गया है—(१) उपांग, (२) छेद, (३) मूल और (४) प्रकीर्णक। इस प्रकार सारा श्रुत साहित्य १२ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ६ मूलसूत्र और १० प्रकीर्णक कुल ४६ भेदों में आ जाता है।[6]

आचार्य शीलांक ने आचारांगसूत्र की टीका में[7] अर्हतवचनानुयोग को चार भागों में विभक्त किया है—(१) धर्मकथानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) द्रव्यानुयोग और (४) चरणकरणानुयोग। इनके ग्रन्थनाम भी निर्दिष्ट किये गये हैं। नन्दीसूत्र[8] में आगम ग्रन्थों की जो सूची

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन, पृ० २-६.
२. नन्दीसूत्र, ३८. ३. कम्मविवाग, १।५.
४. नन्दीचूर्णि, पृ० ४७.
५. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० २१.
६. वही, पृ० २७-५०.
७. आरभ्यतेऽर्हद्वचनानुयोगः, स च चतुर्धा, तद्यथा—धर्मकथानुयोगो गणितानुयोगो द्रव्यानुयोगश्चरणकरणानुयोगश्चेति, तत्र धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनादिकः, गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्त्यादिकः द्रव्यानुयोगः पूर्वाणि सम्मत्यादिकश्च, चरणकरणानुयोगश्चाचारादिकः। आचारांग (शी० टी०) पृ० १.
८. नन्दीसूत्र, ४४.

दी गयी है वे सब आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। अतः वर्तमान में उपलब्ध आगमों को प्रामाणिक मानने की परम्परा में एकरूपता नहीं है।[1] श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज उपलब्ध आगमों में कुछ प्रकीर्णकों (निर्युक्तियों) को जोड़कर ४५ आगमों को प्रामाणिक मानता है। मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय में एक परम्परा भाष्य, चूर्णि आदि को मिलाकर आगमों की संख्या ८४ भी मानती है। स्थानकवासी और तेरापन्थी परम्परा ३२ आगमों को प्रामाणिक मानती है। उसमें भी दोनों परम्पराएँ ११ अंग सूत्रों को स्वतःप्रमाण मानती है जबकि १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक इन २१ आगमों का प्रमाण उनका अंग-साहित्य से अविरोधी होने पर निर्भर करता है।[2] दिगम्बर सम्प्रदाय ने अंग और प्रकीर्णक (पइन्ना) को मान्यता दी है।[3] दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका धवला और जयधवला में श्रुत का वर्णन सामायिक से लेकर बिन्दुसार पर्यन्त ही क्रम से किया गया है।[4]

श्रुत सम्पत्ति की परम्परा

नन्दीसूत्र की प्राचीनतम व्याख्या नन्दीसूत्रचूर्णि विक्रम की आठवीं सदी से अर्वाचीन नहीं है। उसमें पूर्व की व्याख्या के सम्बन्ध में लिखा है कि महावीर ने इनका प्रथम उपदेश दिया, इसलिए ये पूर्व कहलाये।[5] इसी प्रकार षट्खंडागम की टीका में लिखा है कि जो पूर्वस्वरूप प्राप्त हो वह पूर्वगत है।[6] भगवतीसूत्र में कहा गया है कि अमुक वस्तु पुरुषादानीय पार्श्वनाथ ने इसी प्रकार कही थी जिसको मैं भी कहता हूँ।[7] तात्पर्य यह है कि महावीर का तत्त्वज्ञान वही है जो पार्श्वनाथ की परम्परा से चला आ रहा था। इस प्रकार हमें 'पूर्व' शब्द का अर्थ स्पष्ट समझ में

१. आगम और व्याख्या साहित्य, पृ० २५.
२. वही, पृ० २५, २७.
३. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० २७.
४. षट्खंडागम, पुस्तक १, पृ० ९६, पु० ९, पृ० १८८, कषायपाहुड, भाग १, पृ० ९४.
५. नन्दीसूत्र चूर्णि, पृ० १११.
६. षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ११४.
७. भगवईसूत्र, ५. २२५.

आता है कि जो श्रुत महावीर के पूर्व से पार्श्वनाथ की परम्परा द्वारा चला आ रहा था और जो किसी रूप में महावीर को भी प्राप्त हुआ था, वह पूर्वश्रुत है। याकोबी की भी यही मान्यता है[1]। एक भी स्थान में महावीर या उनके शिष्यों में से किसी ने ऐसा नहीं कहा कि जो महावीर का श्रुत है वह अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवोत्पन्न है। चौदह पूर्वों के विषयों की एवं उनके भेद-प्रभेदों की एक अपूर्ण सूची नन्दीसूत्र[2] तथा धवला[3] में मिलती है। आचारांग आदि ११ अंगों तथा अन्य उपांग आदि शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों के साथ जब उसका मिलान करते हैं तो ऐसा लगता है कि मुख्य-मुख्य विषयों में पार्श्वनाथ की परम्परा के पूर्वश्रुत और महावीर की परम्परा के अंगोपांग श्रुत में समानता ही है। अतः उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—

१. पार्श्वनाथ की परम्परा का जो 'पूर्वश्रुत' महावीर को प्राप्त हुआ था, उसमें प्रतिपादित विषयों एवं भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर ही आचारांग आदि आगम ग्रन्थों की रचना गणधरों एवं स्थविर आचार्यों द्वारा हुई होगी।

२. महावीर शासित संघ में पूर्वश्रुत और आचारांग आदि श्रुत दोनों की प्रतिष्ठा थी। निर्ग्रन्थ परम्परा अपने वर्तमान श्रुत का मूल पूर्व में मानती रही है। यद्यपि नन्दीसूत्रचूर्णि की 'पूर्व' की व्याख्या इससे भिन्न दिशा का संकेत करती है।

अंग

प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में अंग शब्द का सामान्य रूप से प्रयोग होता है। वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग है, जहाँ इसका अर्थ है- 'वेदाध्ययन में सहायक'। वैदिक साहित्य में शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्ति, कल्प और ज्योतिष यह ६ प्रकार का अंग-विभाजन मिलता है। इन्हें वेदांग भी कहते हैं। बौद्ध साहित्य

१. सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट २२, भूमिका, पृ० ४४.
२. नन्दीसूत्र, पत्र १०९.
३. षट्खण्डागम, पु० १, पृ० ११४.
४. मज्झिमनिकाय २२, पृ० १३३.

में भी अंग शब्द मिलता है। बौद्ध साहित्य ९ अंगों में विभाजित किया गया है। सुत्त, गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अबोतधम्म और वेदल। उक्त विभाजन के सम्बन्ध में प्रो० विंटरनित्ज का मन्तव्य है कि यह विभाजन न तो पूर्ण बौद्ध साहित्य का द्योतक है और न किसी विशेष ग्रन्थ का, परन्तु यह विभाजन सिर्फ बौद्ध साहित्य के भिन्न-भिन्न प्रकारों का वर्गीकरण मात्र है।[1] जैन साहित्य में अंग शब्द श्रुतपुरुष के अंग रूप में प्रयुक्त हुआ है। इन अर्थों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना कठिन है कि अंग शब्द का प्रयोग इन तीनों सम्प्रदायों में सबसे पहले किसने किया? इस सम्बन्ध में प्रो० एम० पी० पटवर्धन का मत है कि अपने साहित्य के प्रथम १२ मुख्य ग्रन्थों को बतलाने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों से श्वेताम्बरों ने अंग शब्द लिया है और उसी आधार से दिगम्बर जैनों ने अपने धार्मिक साहित्य के मुख्य विभाजन को प्रदर्शित करने के लिए 'वेद' शब्द लिया है।[2] आगमों के लिए अंग शब्द के प्रयोग की तिथि के सम्बन्ध में प्रो० एच० आर० कापड़िया का मत है कि यह शब्द उतना ही पुराना है जितना कि अंग साहित्य, क्योंकि यह शब्द विपाकसूत्र और समवायांग में पाया जाता है।

आचारांग

बारह अंग ग्रन्थों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (भगवती), (६) ज्ञाताधर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अन्तःकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकश्रुत और (१२) दृष्टिवाद।

द्वादशांग में सर्वप्रथम आचारांग का नाम आता है।[3] प्राकृत में इसे 'आयारो' कहा गया है। आयार या आचार शब्द के कई अर्थ

---

१. हिस्ट्री आफ इ० लिटरेचर, भाग २, पृ० १०.

२. दशवैकालिकसूत्र: एक अध्ययन, पृ० १९-२०.

३. अथ ह द्वादशानामंगानां मध्ये प्रथमांगश्रीआचारांग यतो ज्ञानाचारादीनां मोक्षांगानामिह प्ररूपणादाचारांगम्। आचारांग चूर्णि, पृ० १.

मिलते हैं। अभिधानराजेन्द्रकोश में लिखा है 'मर्यादापूर्वक आचरण करना आचार कहलाता है।'[1]

एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मोक्षलक्षी आचार को ही आचार कहा गया है। ऐसे आचार का जिस ग्रन्थ में विवेचन हो उसका नाम आचारांग है। पाइयसद्दमहण्णवो में आचार शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गयी है, "आचरण, अनुष्ठान, चाल-चलन, रीति, भांत, बारह ग्रन्थों में पहला ग्रन्थ, निपुण शिष्य।"[2]

इन दोनों कोशों में इस शब्द के अर्थ के साथ कई ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जिनमें आचारांग के अर्थ एवं उसके विषय पर भी प्रकाश डाला गया है।

नामान्तर

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचारांग को 'भगवान्'[3] और 'वेद'[4] कहा है। टीकाकार शीलांकाचार्य ने भी इसे 'भगवान्' का नाम दिया है।[5] प्रो० वेबर का कथन है कि आचारांग कभी सामायिक के नाम से प्रसिद्ध रहा है।[6] पं० कैलाशचन्द शास्त्री ने इस मत की समीक्षा करते हुए लिखा है कि 'दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका धवला और जयधवला में श्रुत का वर्णन सामायिक से लेकर बिन्दुसार पर्यन्त ही क्रम से किया गया है। अतः डॉ० वेबर ने आवश्यक निर्युक्ति के जिस गद्यांश को उद्धृत किया है उसमें श्रुत-ज्ञान को लेकर निर्देश किया गया है तथा जहाँ द्वादश गणिपिडग का निर्देश है वहाँ आचारांग आदि को लेकर निर्देश है क्योंकि बारह अंगो में प्रथम अंग आचार और अन्तिम अंग दृष्टिवाद ही सर्वत्र बतलाया

---

१. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड २, पृ० ३३०.

२. पाइयसद्दमहण्णवो, पृ० १४५.

३. आचारांगनिर्युक्ति, १.

४. वही, ११.

५. आचारस्य यथार्थनाम्नः भगवत् इति अर्थ (ऐश्वर्यकृपयशःश्री) धर्म-प्रयत्नगुणभाजः। टीका, पृ० ३.

६. ट्रीटाइस में प्रो० वेबर का रिमार्क, पृ० २४३.

गया है। आवश्यक निर्युक्ति में जो सामायिक को आदि लेकर कथन किया है सो वहाँ सामायिक आचारांग का स्थानापन्न नहीं है।[1]

आचारांग का विषय

सिद्धसेनगणी ने लिखा है कि जैसा इसका नाम है यह ग्रन्थ साधुओं के आचारसम्बन्धी नियमों का आगार है।[2] तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि आचारांग ८ शुद्धि, ३ गुप्ति, और ५ समिति रूप चर्या का कथन करता है[3]। इसी प्रकार राजवार्तिक में लिखा है कि आचारांग में चर्या का विधान-शुद्धि, ५ समिति, ३ गुप्ति आदि रूप में वर्णित है[4]। कषायपाहुड की जयधवला टीका[5] तथा षटखण्डागम की धवला टीका[6] में आचारांग से निम्न गाथा उद्धृत की गयी है, "यत्नपूर्वक चलना चाहिए, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिए, यत्नपूर्वक बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए, यत्नपूर्वक संभाषण करना चाहिए। इस प्रकार आचरण करने से पाप का बन्ध नहीं होता।" ये दोनों गाथाएँ वट्टकेरकृत मूलाचार में भी पाई जाती हैं। उस समय दिगम्बर परम्परा में मूलाचार की प्रख्याति आचारांग के नाम से थी, अतः ये गाथाएँ उसी से उद्धृत हो सकती हैं। यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तीनों ग्रन्थकारों ने ये दोनों गाथाएँ दशवैकालिक से ली हों, परन्तु मूलाचार के रचयिता ने इसका उल्लेख न किया हो। ये दोनों गाथाएँ आचारांग की न होकर दशवैकालिक सूत्र की ही हैं। दशवैकालिक भी मुनि-आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ है। बताया गया है कि आचारांग साधुओं के आचार का वर्णन करता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने लिखा है कि आचारांग में मोक्ष के उपाय की चर्चा है और समग्र प्रवचन का सार भी मोक्ष है। नन्दीसूत्र में कहा

---

१. जैन साहित्य के इतिहास की पूर्वपीठिका, पृ० ५६८.
२. तत्त्वार्थवार्तिक पर सिद्धसेनगणी की टीका, पृ० ९१.
३. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ७२.
४. राजवार्तिक, पृ० ७२.
५. कषायपाहुड, जयधवला टीका सहित, पृ० १२२.
६. षट्खण्डागम, भाग १, पृ० ९.

गया है कि आचारांग में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का वर्णन किया गया है[1]। समवाय में बताया गया है कि इस ग्रन्थ में निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार, गोचर, विनय आदि विषयों का विवेचन है[2]। इन कथनों की उपलब्ध आचारांग की विषयवस्तु से कितनी संगति है इसकी विस्तृत समीक्षा द्वितीय अध्याय में की जायेगी।

इससे स्पष्ट है कि आचारांगसूत्र में मोक्ष और मोक्षप्राप्ति के उपाय का विवेचन है। मोक्षप्राप्ति मुनिधर्म के पालन से होती है और मुनियों के आचार-विचार का वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है जिसका विस्तृत विचार छठे अध्याय में किया जायेगा।

आचारांग का महत्त्व

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचारांग के महत्त्व का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है। उनका कथन है कि १२ अंगों का सार 'आचारांग' है। 'आचारांग' का सार 'अनुयोग' है। 'अनुयोग' का सार 'प्ररूपणा' है। 'प्ररूपणा' का सार 'आचरण' है। 'आचरण' का सार 'निर्वाण' है और 'निर्वाण' का सार 'अव्याबाध सुख' है[3]। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, चूर्णिकार जिनदासगणि[4] और टीकाकार आचार्य शीलांक[5] इस विषय में एकमत हैं कि १२ अंगों में आचारांग का उपदेश और ग्रन्थ रचना सर्वप्रथम है किन्तु आवश्यकचूर्णि[6] में अंग साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से इसके विपरीत मतों का भी निर्देश है। फिर भी इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समग्र आगमों में आचारांग का अपना एक मूर्धन्य स्थान है।

प्रस्तुत आगम में आचार का वर्णन है और आचार साधना का प्राण है, वही मुक्ति का मूल है। इसलिए आगम साहित्य के व्याख्या-

---

१. नन्दीसूत्र, ४५.

२. समवायसूत्र, १३६.

३. आचारांग निर्युक्ति, १६-१७.

४. आचारांग चूर्णि, पृ० ३-४.

५. अयमाचारो द्वादशानामप्यंगानां प्रथममंगमिति, आचारांग टीका, पृ० ५.

६. आवश्यकचूर्णि, पृ० ५६-५७.

कारों ने इसे अंग साहित्य का सार कहकर इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। प्रो० याकोबी[१] ने लिखा है कि भाषा, शैली एवं विषय की दृष्टि से भी यह सब आगमों से प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में न केवल भिक्षु के आचार का वर्णन मिलता है बल्कि यह ग्रन्थ उस काल के समाज, शासन, इतिहास एवं संस्कृति सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस ग्रन्थ में भगवान् महावीर का जीवनचरित्र प्राप्त होता है, जो सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। तीर्थ-प्रवर्तनकाल में सर्वप्रथम सूत्र रूप में संकलित होने से[२] तथा अनुयोगत्रय से विशुद्ध श्रद्धावान् साधक के स्वाध्याय के लिए चरण-करणानुयोग का आदि आगम होने से आचारांग का प्राधान्य स्वतः-सिद्ध है। निर्युक्तिकार का कथन है कि इस सूत्र के अध्ययन से ही साधक श्रमणधर्म-ज्ञाता एवं आचार्यपद का अधिकारी हो सकता है[३]। इन्होंने तो आचारांग के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उसे भगवान् का ही रूप दे दिया है। प्रवचन-प्रासाद की पृष्ठभूमि, साधक जीवन का सम्बल, मोक्ष-वृक्ष का मूल और भगवान् की अक्षरात्मा का प्रतिनिधि आचारांग स्वयं भगवान् है[४]। प्राचीन काल में जब तक दशवैकालिक की रचना नहीं हुई थी, तब तक यह व्यवस्था थी कि दीक्षार्थी को सर्वप्रथम आचारांग का प्रथम अध्ययन 'शस्त्र परिज्ञा' पढ़ाया जाता था और दीक्षा के बाद भी आचारांग के पिण्डैषणा सम्बन्धी अध्ययन को पढ़ लेने के पश्चात् ही वह स्वतन्त्र भाव से भिक्षाचर्या के लिए जा सकता था[५]। इससे पता चलता है कि मुनिदीक्षा के पहले ही आचारांग की पढ़ाई शुरू हो जाती थी। इस विवेचन से इसका महत्त्व स्वतःसिद्ध है।

---

१. सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भूमिका, पृ० ९.

२. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ८.

३. वही, गाथा १०.

४. वही, गाथा ९.

५. व्यवहार उद्देश ३, वि० ४, गाथा १७४-१७६.

परिमाण

आचारांग के परिमाण के विषय में आचारांग निर्युक्ति में एक गाथा[1] मिलती है जिसके अनुसार प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनों में १८००० पद एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ५ चूलिकाएँ हैं। आचारांग-सूत्र का परिचय नन्दी[2] और समवाय[3] में मिलता है। नन्दीसूत्र की अपेक्षा समवाय में दिये गये परिचय में कुछ विशेषण अधिक हैं, लेकिन इस बात में उभय आगमों में एकरूपता है कि आचारांग-सूत्र के २ श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशक और १८००० पद हैं। नन्दी और समवाय में उद्देशकों की संख्या ८५ है। यद्यपि आचारांग-निर्युक्ति[4] में भी प्रथम श्रुतस्कन्ध के ५१ उद्देशक और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ३४ उद्देशक, इस प्रकार कुल मिलाकर ८५ उद्देशक बताये गये हैं, किन्तु निर्युक्ति की गाथा क्रमांक ४.३४५ और ३४६ के अनुसार महापरिज्ञा के ७ उद्देशक मिलाने पर प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ८७ उद्देशक होते हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि गाथा क्रमांक २३६ से २३८ में लोकसार अध्ययन के ६ उद्देशक कहे गये हैं किन्तु गाथा क्रमांक ३४५ में उसके ५ ही। इसी प्रकार धूत अध्ययन के ५ उद्देशक बताये हैं,[5] किन्तु गाथा ३४५ में उसके ८ उद्देशक गिनाये हैं। इस प्रकार एक ही निर्युक्ति में उद्देशकों की भिन्न-भिन्न संख्या का यह निर्देश विचारणीय है।

आचारांग की दीपिका[6] में कहा गया है कि आचारांग सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन और दूसरे

---

१. णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं।
आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ११.

२. नन्दीसूत्र, पृ० ४५.

३. समवाय, पृ० १३६.

४. आचारांगनिर्युक्ति १६३, १९८, २३५-२३८, १५०-२५१, २५३-२५७-२८८; ३, ७, १०, ३०३, ३११, ३१२, ३१४-३१५.

५. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २५०–२५१.

६. आचारांग दीपिका, पृ० १.

श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययन हैं। इस तरह दीपिका टीका के अनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ३ अध्ययन अधिक हैं।

आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन हैं[१]—(१) शस्त्रपरिज्ञा, (२) लोकविजय, (३) शीतोष्ण, (४) सम्यक्त्व, (५) लोकसार, (६) धूत, (७) महापरिज्ञा, (८) विमोक्ष और (९) उपधानश्रुत।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन हैं[२]—(१) पिण्डैषणा, (२) शय्या, (३) ईर्या, (४) भाषा, (५) वस्त्रैषणा, (६) पात्रैषणा, (७) अवग्रहप्रतिमा, (८) स्थान, (९) निषीधिका, (१०) उच्चारप्रश्रवण, (११) शब्द, (१२) रूप, (१३) परक्रिया, (१४) अन्योन्य क्रिया, (१५) भावना और (१६) विमुक्ति।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनों का चार चूलिकाओं में विभाजन इस प्रकार है—प्रथम चूलिका (१ से ७ अध्ययन), दूसरी चूलिका (८ से १४ अध्ययन), तीसरी चूलिका (१५वां अध्ययन) एवं चौथी चूलिका (१६वां अध्ययन)।[३]

कालान्तर में आचारांग में 'निशीथ' के जुड़ने से उसकी पाँच चूलिकाएँ (चूलाएँ) मानी जाने लगीं।

आचारांगनिर्युक्ति[४] में महापरिज्ञा (महापरिण्णा) का अध्ययन क्रमांक ७ है। शीलांकाचार्य ने भी महापरिण्णा को सातवाँ ही अध्ययन बतलाया है। इस प्रकार प्राचीन उल्लेखों के अनुसार आचारांग के कुल मिलाकर पच्चीस अध्ययन थे जो ८५ उद्देशकों में विभक्त थे, परन्तु वर्तमान में 'महापरिज्ञा' नामक सातवें अध्ययन को छोड़कर २४ अध्ययन तथा ७८ उद्देशक हैं।

---

१. आचारांग नियुक्ति, ३१–३२.

२. वही, २८८–२९१.

३. वही, २९७.

४. वही, श्लोक ३१.

चूलिका

आचारांगनिर्युक्ति [१] में सर्वत्र उसकी पाँच चूलिकाएँ निर्दिष्ट हैं किन्तु एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब उसकी चार चूलिकाएँ रही होंगी क्योंकि समवाय [२] और नन्दीसूत्र [३] से मालूम पड़ता है कि आचारांग में २५ अध्ययन हैं। अन्यत्र समवाय में जहाँ आचार, सूत्रकृत और स्थानांग के अध्ययनों की संख्या का योग ५७ बतलाया गया है, वहाँ भी निशीथ का वर्जन करके आचारांग के मात्र २५ अध्ययन गिनने पर ही उनका योग ५७ बनता है।[४] प्राचीन आगम संकलन काल में एक काल ऐसा रहा है जब चार चूलिकाएँ तो आचारांग में जोड़ी जा चुकी थीं किन्तु निशीथ नहीं जोड़ा गया था। एक समय आया जब निशीथ जोड़ा गया [५] और तभी वह बहु से बहुतर हो गया। [६] यहाँ निर्युक्तिकार का कथन है कि आचारांग बढ़ता ही गया। नन्दीसूत्र में आचारांग के २५ अध्ययन बताये गये हैं इससे सिद्ध होता है कि नन्दी के समय से पहले पाँचवीं चूला आचारांग से पृथक् थी। निशीथपीठिका में कहा गया है कि इन पाँच चूलिकाओं सहित ही आचारांग कहलाता है। जिस प्रकार पाँचवीं चूलिका बाद में जोड़ी गयी उसी प्रकार समय-समय पर अन्य चूलिकाएँ इस ग्रन्थ में जोड़ी गयी होंगी। चूलिकाएँ जोड़ने की परम्परा बहुत पुरानी रही है। मूल ग्रन्थ को स्पष्ट करने के लिए उसके साथ चूलिकाएँ जोड़ दी जाती थीं। शीलांकाचार्य ने अपनी टीका में लिखा है, "आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ब्रह्मचर्य आदि ९ अध्ययनों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें समस्त विवक्षित विषय सम्मिलित नहीं हो सके या हुए भी हैं तो बहुत संक्षेप में, इसलिए अनभिहित का ज्ञान कराने और संक्षेप कथन का विस्तार करने के लिए चार चूलिकाओं का प्रतिपादन किया गया है।"

---

१. आचारांग निर्युक्ति ११ और २९७.
२. आचारांग सूत्र १३६.
३. वही, ४५.
४. वही, ५७.
५. निशीथ: एक अध्ययन, पृ० १५.
६. आचारांग निर्युक्ति, ११.

आचारांगसूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध विशिष्ट एवं प्राज्ञ साधुओं के लिए ही उपयोगी था। अतः सर्वसाधारण उसका अनुशीलन करके उसे हृदयस्थ नहीं कर पाते थे। इस कठिनता को दूर करने के लिए उनमें चूलिकाएँ जोड़ी गयीं।

मंगल वाक्य

कार्य में आने वाले विघ्नों को दूर करने के लिए मंगल करने की शिष्ट परम्परा है। मंगल पाप को नष्ट करने वाला और सुख को प्रदान करने वाला होता है। टीकाकार का कहना है कि आचारांगसूत्र के आदि, मध्य और अन्त में मंगलवाक्य रखे गये हैं।[१] इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार मौन हैं। जो उद्धरण टीकाकार ने मंगलवाक्य के रूप में दिये हैं, उनसे उनकी यथार्थता स्पष्ट नहीं होती क्योंकि उसमें किसी को नमस्कार नहीं किया गया है। इसका कारण यह सम्भव है कि पहले मंगलाचरण करने की प्रथा न रही हो किन्तु बाद में उसे ग्रन्थ का एक आवश्यक अंग मान लिया गया हो। यही कारण है कि उसकी पूर्ति के लिए टीकाकार को इतनी जोड़-तोड़ करनी पड़ी है।

ग्रन्थारम्भ

ग्रन्थ का प्रारम्भ 'सुयं मे आउसं' पद से होता है जिसका अर्थ होता है "हे आयुष्मान्, मैंने सुना है।" इससे दो बातों पर ध्यान जाता है—(१) 'आयुष्मान्' पद के द्वारा किसी को सम्बोधित किया गया है तथा उसकी दीर्घायु की कामना की गयी है। (२) 'सुयं' पद से ज्ञात होता है कि स्वयं वक्ता इस ग्रन्थ का कर्ता नहीं है अपितु उसने यह सब भगवान् से सुना है। आगमों में प्रस्तुत वाक्य के वक्ता 'सुधर्मा' और श्रोता 'जम्बू' माने जाते हैं।[२] इस बात को टीकाकार ने स्पष्ट किया है।[३] चूर्णिकार ने भी स्पष्ट किया है कि भगवान् के अर्थरूप उपदेश को सूत्रबद्ध करके सभी गणधर अपने-अपने शिष्यों

---

१. आचारांग टीका, पृ० २८१.
२. आचारांग : एक अनुशीलन, पृ० ६.
३. आचारांग टीका, पृ० १–२.
४. आचारांग टीका, पृ० १०.

को कहते हैं।[1] अभयदेवसूरि ने भी इसी बात को स्पष्ट किया है कि सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा है।[2]

उद्देशकों का प्रारम्भ एवं अन्त

प्रथम श्रुतस्कन्ध के समस्त उद्देशकों का अन्त 'तिबेमि' शब्द से हुआ है। ६ उद्देशकों का प्रारम्भ 'सेबेमि' शब्दों से किया गया है, अन्य १७ उद्देशकों का प्रारम्भ छन्दांश से हुआ है और शेष उद्देशकों के प्रारम्भिक सूत्र गद्य में ही लिखे गये हैं। आठवें अध्ययन के चार उद्देशकों का प्रारम्भ 'जे भिक्खु' से हुआ है जबकि पांचवें अध्ययन के तीन उद्देशकों का प्रारम्भ 'आवन्ती केयावन्ती लोगंसि, शब्दों से हुआ है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ३३ उद्देशकों में से १९ उद्देशकों में 'से भिक्खु वा भिक्खुणी वा' इन शब्दों से प्रारम्भ किया गया है। २८ उद्देशकों का अन्त 'एवं खलु तस्स भिक्खुस्स-सयाजए' शब्दों के साथ होता है।

शीलांक टीका में इनमें से ८ उद्देशकों की समाप्ति के बाद 'तिबेमि' शब्द जोड़े गये हैं जबकि प्रो० याकोबी ने हर उद्देशक के उपरान्त 'तिबेमि' का अर्थ जोड़ा है। तीसरी चूलिका का प्रारम्भ एवं अन्त सबसे विचित्र है जो हमें उपासकदशा का स्मरण कराता है। चौथी चूलिका विमुक्ति का अन्त 'तिबेमि' से किया गया है। प्रो० याकोबी का कथन है कि 'तिबेमि' शब्द प्रत्येक पाठ के बाद प्रयुक्त हुए हैं। टीकाकार ने प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ में इन शब्दों का प्रयोग किया है। 'से बेमि' और 'तिबेमि' इन दोनों का अर्थ प्रो० याकोबी ने 'मैं कहता हूँ' किया है जबकि टीकाकार ने 'से' का अर्थ मागधदेशीय भाषा में प्रथमान्त किया है।[3] दीपिका[4] और चूर्णि[5]

---

१. आचारांग चूर्णि, पृ० ८.
२. आचारांग, दीपिका टीका २.
३. आचारांग टीका, पृ० २५.
४. आचारांग दीपिका टीका, पृ० १०–१७.
५. आचारांग चूर्णि, पृ० २७.

में इनका अर्थ 'मैं कहता हूँ' ही है, सिर्फ एक स्थान पर दीपिका में कहा गया है कि 'से' शब्द युष्मद् अर्थ होने से 'तुमको' ऐसा लेना चाहिए।[1] प्रो० याकोबी के अनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रारम्भ बड़ा विचित्र बतलाया गया है।[2]

प्रथम श्रुतस्कन्ध—ब्रह्मचर्य

प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम बंभोराह (ब्रह्मचर्य) है। धर्मसूत्रों में ब्रह्म का अर्थ 'वेद' या 'ज्ञान' है और 'ज्ञान-प्राप्ति' की चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है।[3] उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ है—'विश्व का एक मूलतत्व या आत्मतत्व' और उसकी प्राप्ति ब्रह्मचर्य है।[4] बौद्ध मान्यता के अनुसार, प्रव्रजित भिक्षु की समग्र चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है—ऐसा विनय-पिटक में उल्लेख मिलता है।[5] बौद्धों के मत में मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा इन चार भावनाओं का विचरण होना ब्रह्म-विहार है।[6] उक्त चार भावनाओं से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[7]

चूर्णिकार ने 'लज्जा' के प्रकार बतलाते हुए लिखा है कि लोकोत्तर संयम ही लज्जा है। लज्जा, दया और संयम ब्रह्मचर्य कहलाता है।[8] उनका कथन है कि जो तप और संयम में पराक्रम करते हैं वे ही ब्रह्मचर्य में विचरण करते हैं।[9] निर्युक्तिकार के कथनानुसार

---

१. 'से बेमो' ति—सो हं ब्रवीमि, से शब्दस्य युष्मदर्थत्वात् त्वां वा ब्रवीति. आचारांग दीपिका टीका, पृ० १९.

२. सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, २२, पृ० ८८.

३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१.

४. वैदिक दर्शन, पृ० ६९.

५. विनयपिटक, पृ० १३६.

६. बौद्ध दर्शन, पृ० ४७.

७. वही, पृ० ४८.

८. आचारांग चूर्णि, पृ० २१.

९. जे य एवं तवे संजमे परक्कमंति, एतेसु चेव बंभचेरं तिवेमि। चूर्णि, पृ० १७०.

आगमों की वाचनायें

डॉ० विन्टरनित्ज ने लिखा है[1] आगमों की प्राचीनता और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में स्वयं श्वेताम्बर जैनों में यह परम्परा पाई जाती है कि मूल सिद्धान्त चौदह पूर्वों में सुरक्षित थे। महावीर ने स्वयं अपने शिष्य गणधरों को उनकी शिक्षा दी थी। किन्तु आगे चलकर उन पूर्वों का ज्ञान शीघ्र ही नष्ट हो गया। महावीर के शिष्यों ने उस ज्ञान की परम्परा को आगे चलाया। किन्तु वह ६ पीढ़ी तक ही चल सकी। महावीर-निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में मगध देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जो जाकर १२ वर्ष में समाप्त हुआ। अकाल के समय अनेक जैन भिक्षु भद्रबाहु के नेतृत्व में अन्यत्र प्रस्थान कर गये और शेष भिक्षु स्थूलभद्र के नेतृत्व में वहीं रहे। दुष्काल समाप्त होने पर स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें अंगों का संकलन किया गया। इस सम्मेलन में ११ अंगों का ही संकलन हो पाया, क्योंकि एक अंग दृष्टिवाद जिसमें पूर्व साहित्य का संकलन था, किसी को पूर्णतः स्मरण नहीं था। यही जैन आगमों की पाटलिपुत्र वाचना कही जाती है। इसका वर्णन तिलोयपण्णत्ती सर्ग ६ में मिलता है। इसके बाद वीर निर्वाण सम्वत् ८२७ और ८४० के मध्य में मथुरा में एक वाचना होने का उल्लेख मिलता है।[2] इसके प्रमुख स्कंदिलसूरि थे। इसे 'माथुरी वाचना' कहते हैं। इसी समय आगमों के संकलन हेतु नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में बल्लभी में एक अन्य सम्मेलन बुलाया गया था। आगमों की यह वाचना प्रथम बल्लभी वाचना कही जाती है। माथुरी और बल्लभी इन दोनों वाचनाओं का उल्लेख मलयगिरि[3] ने किया है। भद्रेश्वर की कथावली में कुछ भिन्न ही उल्लेख मिलता है, उसमें लिखा है, "मथुरा में श्रुतसमृद्ध स्कन्दिल नामक आचार्य थे और बल्लभी नगरी में नागार्जुन नामक आचार्य थे। दुष्काल पड़ने पर उन्होंने अपने साधुओं को भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेज दिया। सुकाल होने पर वे फिर मिले और जब अभ्यस्त शास्त्रों

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ४३२.
२. नन्दिचूर्णि, पृ० ९.
३. ज्योतष्करण्डटीका, पृ० ४१.

का परावर्तन करने लगे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वे पढ़े हुए शास्त्रों के अनेक अंशों को प्रायः भूल चुके हैं।[1]

श्रुत का विच्छेद न हो, इसलिए आचार्यों ने सिद्धान्त का उद्धार करना शुरू किया। जो विस्मृत नहीं हुआ था, उसे वैसे ही स्थिर किया और जो भूला जा चुका था, वह स्थल पूर्वापर सम्बन्ध देखकर व्यवस्थित किया गया। सिद्धान्तों का उद्धार करने के लिए स्कन्दिल और नागार्जुनसूरि परस्पर नहीं मिल सके, अतः इनके द्वारा उद्धार किये गये, आगम पाठों में कहीं-कहीं वाचना-भेद रह गया, जिसे परवर्ती आचार्यों ने भी नहीं बदला। इसके पश्चात् वी० नि० सं० ९८० में वल्लभी में एक और सम्मेलन बुलाया गया[2], जिसके अध्यक्ष देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे। इस सम्मेलन में जैन आगमों को लिखित रूप दिया गया, जिसे जैन आगमों का पुस्तकारोहण कहते हैं।[3] जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका, उन्हें आगमों में 'वायणंतरे पुणे'[4] और व्याख्या ग्रन्थों में 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति'[5] ऐसा लिखा गया है। इसे जैन आगमों की अन्तिम और द्वितीय वल्लभी वाचना कहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी संकलन का परिणाम है।

डॉ० याकोबी ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि सर्व सम्मत परम्परा के अनुसार जैन आगम अथवा सिद्धान्तों का संग्रह देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में हुए वल्लभी सम्मेलन में हुआ।[6] कल्पसूत्र में उसका समय वी० नि० सं० ९८० या ९९३ (ईस्वी सन् ४५४ या ४६७) दिया है। सिद्धान्त के नष्ट हो जाने के खतरे को जानकर तथा आगमों के बढ़ते हुए पाठान्तरों को रोकने के लिए देवर्द्धि ने उसे पुस्तकों में लिखवाकर एक निश्चित स्वरूप प्रदान कर दिया। इस तरह आगमों को लिखित रूप में लाने का श्रेय देवर्द्धिगणी को है।

---

१. कथावली, पृ० २५.
२. हिस्ट्री ऑफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० ६१.
३. वही, पृ० ६२.
४. पज्जोसवणा—कल्पसूत्र, १४७.
५. आचारांगटीका, पृ० २४५.
६. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी इस्ट २२, भूमिका, पृ० ३६.

आगमों के ग्रन्थ रूप में उपयोग के विषय में मेरा मत सम्भवतः प्रत्येक गणि अथवा उपाश्रम को आगमों की प्रतियाँ प्रदान करने के लिये देवर्द्धिगणि ने सिद्धान्तों का एक बृहत्संस्करण भी अवश्य कराया होगा। देवर्द्धि के द्वारा सिद्धान्तों को पुस्तकारूढ़ कराने के परम्परागत कथन का सम्भवतः यही अभिप्राय है। यद्यपि इसके पहले जैन साधु आगमों को कण्ठस्थ करते थे, उसे लिखने का प्रयत्न नहीं करते थे किन्तु देवर्द्धि के पूर्व आगमों का लेखन बिलकुल नहीं हुआ होगा यह विश्वास नहीं होता। उस काल में ब्राह्मण अपने धर्मशास्त्रों की पुस्तकें रखते थे, यद्यपि पढ़ाते समय उसका उपयोग नहीं करते थे। ये पुस्तकें गुरुओं के व्यक्तिगत उपयोग के लिए होती थीं। शायद जैन साधु भी इस प्रथा का पालन करते हों। यद्यपि अपने धर्मग्रन्थों का उत्तराधिकार मौखिक से रूप सौंपते हों तथा अपने साथ पुस्तकें न रखते हों। कम से कम जब तक जैन साधु भ्रमणशील थे, तब तक उनमें पुस्तकों के संग्रह की प्रवृत्ति नहीं थी। किन्तु जब से जैन साधु चैत्यों एवं उपाश्रयों में रहने लगे, वे पुस्तकों का संग्रह करने लगे हों।

हेमचन्द्रसूरि ने योगशास्त्र की टीका में लिखा है कि स्कंदिलसूरि और नागार्जुनसूरि ने अंगों को लिखित रूप दिया था। आचार्यों के द्वारा लिखित प्रतियों में पाठान्तर थे। अतः वल्लभी में आमन्त्रित देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में सम्पन्न तीसरी सभा में दोनों प्रतियों का मिलान करके सुधार करने का प्रयत्न किया गया हो। इस धारणा के अनुसार आगमों को वी० नि० सं० ८२७ या ४० (ई० सन् ३०१–३१४) में लिपिबद्ध किया गया होगा।

इस तरह जैन आगमों को लेकर देवर्द्धिगणि के सम्बन्ध में साधारणतया जो विश्वास किया जाता है, उससे हमें एक भिन्न ही बात प्रतीत होती है। सम्भवतः उन्होंने उपलब्ध प्रतियों को सुव्यवस्थित किया और जिनकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हुईं, उन्हें आगम जाननेवाले विद्वानों के मुख से सुना हो और उन आगमों की बहुत सी प्रतियाँ प्रत्येक शिक्षालय में देने के लिए तैयार कराई हों, क्योंकि धार्मिक शिक्षा के ढंग में नवीन परिवर्तन के कारण उनकी आवश्यकता थी। इस प्रकार देवर्द्धि के द्वारा किया गया आगमों का यह सम्पादन केवल

नवीन संस्करण मात्र है, जो पहले से ही लगभग उसी रूप में मौजूद था। डॉ० विण्टरनित्ज का यह मत भी द्रष्टव्य[1] है कि वर्तमान में उपलब्ध ११ अंग वही हैं, जिन्हें देवर्द्धि ने संकलित एवं सम्पादित किया था। यह ठीक है कि वल्लभी सम्मेलन में जो आगम लिखे गये उनका आधार पाटलिपुत्र में संकलित आगम थे और वे आगम महावीर और उनके शिष्यों से सम्बद्धित थे। विश्वास यह है कि गणधरों ने महावीर स्वामी के उपदेशों को अंगों में निबद्ध किया। परम्परा से उपांग आदि ग्रन्थों को बाद के स्थविरों की रचना कहा जाता है।

आचारांग के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मत

प्रो० वेबर का मत है कि वर्तमान आगम दूसरी और पांचवीं शती के बीच रचे गये। परन्तु डॉ० याकोबी ने आचारांग के संकलन का समय प्रयुक्त छन्दों के आधार पर पालित्रिपिटक और ललित-विस्तर की रचना के बीच माना है और उसका भी संकोच करके ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चित किया है। डॉ० विण्टरनित्ज ने पाटलिपुत्र की वाचना का समय वी० नि० सं० १८० अर्थात् ई० पू० तीसरी शताब्दी माना है। उनके अनुसार आचारांग लगभग उसी समय की रचना है।

मेरी दृष्टि में डॉ० याकोबी ने जो आगम का काल निश्चित किया है, वही उचित है क्योंकि सम्पूर्ण आचारांगसूत्र की रचना किसी एक लेखक के द्वारा नहीं हुई है। अतः आचारांग के प्रारम्भिक भाग का रचना काल ई० पू० तीसरी शताब्दी है किन्तु उसे अन्तिम और वर्तमान रूप ईसा की पांचवीं शताब्दी तक ही मिल पाया है।

वल्लभी में देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में उपलब्ध साधनों के आधार पर आगमों को व्यवस्थित करके उन्हें पुस्तकारूढ़ कर दिया गया और तब से उनका लेखन कार्य होने लगा।

आचारांगसूत्र का कोई एक निश्चित लेखक नहीं है, लेकिन उसके सम्पादकों में सुधर्मास्वामी, भद्रबाहु, स्थूलभद्र, स्कान्दलसूरि, नागार्जुनसूरि और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नाम निश्चित तौर पर रखे जा सकते हैं।

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ४३३.

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का रचनाकाल

दोनों श्रुतस्कन्धों में अन्तर

आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों में कई दृष्टियों से अन्तर पाया जाता है। सबसे पहले तो इन दोनों श्रुतस्कन्धों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। इसीप्रकार भाषा और शैली में भी पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इन सब विभिन्नताओं एवं शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये दोनों श्रुतस्कन्ध भिन्न-भिन्न समय की रचनाएँ हैं। यद्यपि पर्याप्त प्रमाण के अभाव में लेखकों के नाम निर्देश करना शक्य नहीं है परन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दोनों श्रुतस्कन्ध समकालीन नहीं हैं। सबसे पहले हमें इन दोनों श्रुतस्कन्धों की विभिन्नताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए—

(क) चूलिका-विभाजन—हम यह पाते हैं कि दूसरे श्रुतस्कन्ध में 'चूलिका' शब्द का प्रयोग किया गया है और इसका विषय ४ चूलिकाओं में विभक्त किया गया है। इसमें १६ अध्ययन हैं, जिनमें प्रथम चूलिका में ७ अध्ययन, दूसरी चूलिका में ७ अध्ययन, तीसरी चूलिका में १२वां अध्ययन एवं चौथी चूलिका में १६वां अध्ययन आता है। इस प्रकार दूसरे श्रुतस्कन्ध के समस्त १६ अध्ययनों को चार समुदायों में बाँटा गया है और उन्हें चूलिका के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन हैं, जिन्हें सर्वथा पृथक्-पृथक् रखा गया है, उनके न तो समुदाय बनाये गये हैं और न उन्हें चूलिकाओं में विभक्त किया गया है।

(ख) विषय-निरूपण—प्रथम श्रुतस्कन्ध में विषय-निरूपण में क्रमबद्धता का अभाव है। ऐसा लगता है कि पद्यों और पद्यांशों को एकत्रित करके गद्य के बीच में रखा गया हो। आचार के नियमों की अपेक्षा आचार-निर्माण के आधार-भूत मौलिक सिद्धान्तों का ही उपनिषद् जैसी सूत्रात्मक शैली में निरूपण है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ऐसी बात नहीं है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में जहाँ प्रश्नोत्तर शैली, गूढ़ सूत्रों का प्रयोग, विविध सूक्तियाँ, शब्द-प्रयोग की विशिष्ट परम्परा पायी जाती है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सीधेसादे वाक्यों का प्रयोग है। इसमें न कहीं पद्य हैं और न पद्यांश।

(ग) मंगल-वाक्य—आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की समाप्ति के साथ ही उस ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है क्योंकि आचार्य शीलांक का कथन है कि प्रत्येक ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगलवाक्य होना चाहिए। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आदि[1] (प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, प्रथम उद्देशक), मध्य[2] (पंचम अध्ययन, पंचम उद्देशक, प्रथम वाक्य) और अन्त[3] (९वां अध्ययन, चतुर्थ उद्देशक, १६वां श्लोक) में भी मंगल वाक्य रखे गये हैं, इससे ज्ञात होता है कि शीलांकाचार्य की दृष्टि में आचारांगसूत्र प्रथम स्कन्ध तक ही सीमित था। इसी मत का समर्थन आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने भी किया। उनका कथन है कि आचारांग-सूत्र के आदि, मध्य और अन्त में मंगल है[4]।

(घ) निर्युक्तिकार का वक्तव्य—आचारांगनिर्युक्ति[5] में कहा गया है, "आचार चूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार में से ही लेकर शिष्यों के हितार्थ चूलिकाओं में विभक्त किया। स्पष्ट है कि गणधरकृत आचार के विषय को स्थविरों ने आचारांग की चूलाओं में संकलित किया है। आगे चलकर आचार-निज्जुति में स्पष्ट तौर पर यह बतलाया गया है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की समस्त सामग्री प्रथम श्रुतस्कन्ध के आधार पर ही संकलित की गई है।[6]

---

१. सुयं मे, आउसं, तेण भगवया एवमक्खायं। —आचारांग १।१।१.

२. से बेमि संजहा अणिहारइ पलिपुण्णे चिट्ठइ समंसि भोमे, उवसन्तरए सारक्खमाणे से चिट्ठइ सोयमज्झगए। —आचारांग १।५।५.

३. सयमेव अभिसमागम्म आयतजो समाय-सोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी॥ —वही १।९।४।१६.

४. षट्खण्डागम धवला, श्लोक ४०.

५. थेरेहिणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्था आयारंगेसु पविभत्तो॥ —आचारांग निर्युक्ति २८७.

६. बिइअस्स य पंचमाए अट्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे।
भणिओ पिंडो सिज्जा वत्थं पाउग्गहो चेव॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वण्णिज्जई समासेणं।
छट्ठस्स य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि॥

(ङ) यूरोपीय विद्वानों का मत—हरमन जैकोबी ने लिखा है कि 'मेरा मत है कि आचारांगसूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध और सूत्रकृतांगसूत्र जैन सिद्धान्त के प्राचीनतम अंश के रूप में परिगणित किये जा सकते हैं।[1] आगे चलकर उन्होंने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है—प्रथम श्रुतस्कन्ध आचारांगसूत्र का प्राचीनतम भाग है, जिसमें चूलाएँ जोड़कर द्वितीय श्रुतस्कन्ध तैयार किया गया है क्योंकि प्रथम श्रुतस्कन्ध स्वयं पूर्ण है। उच्चतम पूर्णता की ओर बढ़े हुये मुनि की उन्नति का वर्णन दुर्बोध्य भाषा में किया गया है। अन्तिम अध्ययन जिसमें परीषह सहन का वर्णन है, बाद में जोड़ा गया है, परन्तु अब यह अध्ययन साधु के जीवन का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार डॉ० विन्टरनित्ज का मत है।[2] प्रथम श्रुतस्कन्ध निश्चित रूप से द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पूर्व का है। इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों का मत है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध बाद की रचना है, जिसका आधार प्रथम श्रुतस्कन्ध है।

(च) पं० दलसुख मालवणिया का मत—पं० दलसुख मालवणिया का कथन है[3] कि महावीर की वाणी के निकटतम कोई अंश है तो वह प्रथम श्रुतस्कन्ध ही है यह मान्यता निराधार नहीं है क्योंकि भाषा और भाव इसके प्रमाण हैं प्रथम श्रुतस्कन्ध में गद्य और पद्य दोनों का मिश्र रूप पाया जाता है। मालूम पड़ता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में विभिन्न अवसरों पर महावीर के दिये गये उपदेशों का संग्रह किया गया है। उन प्रकरणों के सभी वाक्य किसी एक विषय का निरूपण करते हैं किन्तु अपना स्वातन्त्र्य खोकर नहीं। यदि प्रकरण

सत्तिक्कगणि सत्तवि निज्जूढाइ महापरिन्नाओ।
सत्थपरिन्ना भावण निज्जूढाओ धुव विमुत्ती॥
आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा बीसइमा पाहुडच्छेया॥

—आचारांग नियुक्ति २८८ से २९१.

१. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, जी० २२, पृ० ४१.
२. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० ४३५-४३६.
३. आचारांगसूत्र, पृ० ५.

से पृथक् कर दिये जायें तब भी उन वाक्यों का अर्थ अन्य वाक्यों की अपेक्षा नहीं रखता[1]। ऐसी विशेषता द्वितीय श्रुतस्कन्ध की नहीं है।

(छ) डॉ० दवे का मत—प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा अति प्राचीन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सूत्रों की भाषा छेदसूत्रोंके निर्माण काल की है। सूत्र रचना भी प्रायः छेद सूत्रों–जैसी हो है। यह मत डॉ० टी० एन० दवे ने आचारांग की भूमिका में प्रदर्शित किया है।[2]

(ज) पाँचवीं चूला का संयोजन—चूलाओं के संयोजन का एक प्रमाण पाँचवीं चूला से भी प्राप्त होता है। आचारागनिर्युक्ति में कहा गया है कि सबसे पहले आचारांग सूत्र केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव ब्रह्मचर्य तक ही सीमित था, पश्चात् यथासमय उसमें वृद्धि होती गयी।

"णव बंभचेर मइओ अट्ठारस पय सहस्सिओ बेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहु बहुतरओ पयग्गेण॥"

निर्युक्ति के इस श्लोक में प्रयुक्त बहु और बहुतर शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। समवाय[3] और नन्दीसूत्र[4] से मालूम पड़ता है कि आचारांग सूत्र में २५ अध्ययन हैं। अन्यत्र समवाय[5] में, जहाँ आचार, सूयगड़ और स्थानांग के अध्ययनों की संख्या का जोड़ ५७ बताया गया है, वहाँ भी निशीथ का वर्जन करके आचारांग के मात्र २५ अध्ययन गिनाये गये हैं, तभी ५७ योग बनता है। इसी आधार को लेकर पं० दलसुखभाई ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन आगम संकलन काल में एक समय ऐसा रहा है जब चार चूलाएँ तो आचारांग में जोड़ी जा चुकी थी, किन्तु निशीथ नहीं जोड़ी गयी थी और एक समय आया कि निशीथ भी जोड़ी गयी और तभी बहु से बहुतर हो गया और उसके २६ अध्ययन हो गये।[6] नन्दीसूत्र और पक्खिसुत्त दोनोंमें आगमों की

---

१. जे आया से विन्नाया इत्यादि.
२. आचारांग, भूमिका, पृ० ३.
३. समवायांग सूत्र १३६.
४. नन्दीसूत्र ४५.
५. समवायांगसूत्र, ५७.
६. निशीथः एक अध्ययन, पृ० १५.

जो सूची दी है, उसे देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस काल तक आगमों के वर्गीकरण में छेद-जैसा कोई वर्ग नहीं था। उन दोनों में अंगबाह्य ग्रन्थों की गणना के समय कालिक श्रुत में निशीथ को स्थान मिला है।[1] इससे स्पष्ट है कि एक ओर नन्दी के अनुसार ही आचारांग सूत्र के २५ अध्ययन हैं और दूसरी ओर नन्दीसूत्र में ही अंग बाह्य ग्रन्थोंकी सूची में निशीथ को स्थान प्राप्त है। यही कहना पड़ता है कि उक्त नन्दीसूत्र के निर्माण के समय निशीथ आचारांग से पृथक् था किन्तु आचारांगनिर्युक्ति के अनुसार निशीथ आचारांग की पाँचवीं चूला अर्थात् २६वा अध्ययन है। इससे यह फलितार्थ होता है कि नन्दीगत आगम सूची का निर्माण काल और आचारांगनिर्युक्ति की रचना का काल इन दोनों के बीच में ही कहीं निशीथ आचारांग में जोड़ा गया। स्पष्ट है कि इस समय के पूर्व चार चूलिकाएँ जुड़ी थीं। यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार किसी समय निशीथ को आचारांग की पाँचवीं चूला के रूप में जोड़ा गया, उसी प्रकार कालान्तर में उसे आचारांग से पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बना दिया गया।

(ङ) शीलांक के मत के उल्लेखानुसार समय-सीमा का निर्णय— आचार्य शीलांक का कथन है कि चतुर्दश पूर्वधर स्थविरों ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के आधार पर ही यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध-ग्रथित किया है। इस तरह शीलांक के मतानुसार अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के बाद उसका निर्माण नहीं माना जा सकता है अर्थात् द्वितीय श्रुतस्कन्ध के निर्माण की अन्तिम अवधि वीर निर्वाण सं० १७० अर्थात् ईस्वी पूर्व ३५७ है। डॉ० धारगे के अनुसार आचारांगसूत्र का द्वितीय श्रुत-स्कन्ध दशवैकालिक सूत्र के बाद ग्रथित है। इस आधार पर द्वितीय श्रुतस्कन्ध वी० नि० सं० ७० के बाद और वी० नि० सं० १७० के पूर्व संकलित हुआ होगा।[2] डा० धारगे के मत की आलोचना करते हुए प्रो० कापडिया ने लिखा है कि दशवैकालिक और आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत वर्णित नियमों का मूल पूर्व साहित्य में है, अतएव पद्यमूलक समानता के आधार पर दशवैकालिक सूत्र के

१. हिस्ट्री ऑफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० २४-२५.
२. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० १७२.

बाद आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना हुई, यह मानना उचित नहीं है।

आचार्य शीलांक ने स्थविर का अर्थ चतुर्दश पूर्वधर किया है। यदि यह अर्थ न लेवें तो क्या अभिप्रेत है? नन्दीसूत्र में उल्लेख मिलता है कि[1] चतुर्दश पूर्वी और सम्पूर्ण दश पूर्वी संयमी पुरुष के लिए द्वादशांगी नियम से सम्यक् है। इससे यह अर्थ फलित होता है कि दशपूर्वी के ज्ञाता भी सम्यक् शास्त्र का निर्माण करते हैं। मूलाचार[2] में भी इसी सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। नन्दी और मूलाचार के मतैक्य से पं० दलसुखभाई ने कल्पना की है—"दशपूर्वधर द्वारा रचित शास्त्र नियमतः सम्यक् कोटि में हैं। अतएव उक्त निर्युक्ति की गाथा में आए हुए "स्थविर" शब्द का अर्थ केवल चतुर्दश पूर्वधर न लेकर दशपूर्वधर भी लिया जाए तो असंगत कल्पना न होगी[3]। दशपूर्वधरों में अंतिम व्यक्ति श्वेताम्बर मत के अनुसार वज्रस्वामी हैं और दिगम्बर मत में आचार्य धरसेन हैं। वज्रस्वामी का स्वर्गारोहण वी० नि० ५८४ और धरसेन का वी० नि० ३४५ है। अतएव आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचना की अंतिम अवधि वी० नि० ५८४ हो सकती है। किन्तु पं० दलसुखभाई के मतानुसार इस अवधि के प्रति संकोच करने की आवश्यकता है, क्योंकि आचार्य भद्रबाहु ने पज्जोसण कल्प की रचना की है और उसका आधार आचाराग का यही द्वितीय श्रुतस्कन्ध है। उनके इस कथन की सत्यता का बोध किसी भी विद्वान् के द्वारा 'पज्जोसण कप्प' और मूलाचार को आचारांग से तुलना करने पर हो सकता है। अतएव उनके अनुसार आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचना की अंतिम अवधि वी० नि० सं० १७० हो सकती है।

व्याख्या साहित्य

जितना महत्त्व मूल आगम साहित्य को दिया जाता है, उतना ही महत्त्व आगम साहित्य पर लिखी हुई व्याख्याओं को भी दिया जाता है

१. नन्दीसूत्र, ४१.

२. सुत्तं गणधर कथिदं तहेव पत्तेय बुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्ण दस पुव्व कथिदं॥ —मूलाचार ८०.

३. आचारांग सूत्र पर टाइप निबन्ध।

क्योंकि आगम को समझने के लिए इनका ही अवलम्बन है। आचारांग की व्याख्या के लिए निर्युक्ति, चूर्णि तथा टीकाएँ लिखी गईं, जिनका विवेचन निम्न प्रकार है—

निर्युक्ति

प्राकृत में इसे 'निज्जुति' कहते हैं। यह आगमों पर सबसे पहली और सबसे प्राचीन व्याख्या मानी जाती है[1]। इसके लेखक भद्रबाहु स्वामी माने जाते हैं। एच० आर० कापड़िया के मतानुसार इनकी मृत्यु वी० नि० सं० १७० (ई० पू० ३४४) में हुई[2], लेकिन भद्रबाहु दो हुए हैं, अतः यह किस भद्रबाहु की रचना है—इसका निर्णय नहीं हो पाया है[3]। ल्युमन का कथन है कि निर्युक्ति का वर्तमान रूप ईस्वी सन् ८० में निश्चित हो गया था[4]।

निर्युक्ति शब्द का अर्थ

सूत्र में निश्चित किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो उसे 'निर्युक्ति' कहते हैं। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टान्तों का उपयोग किया गया है। यह व्याख्या इतनी सांकेतिक और संक्षिप्त है कि बिना भाष्य और टीका के सम्यक् प्रकार से समझ में नहीं आ सकती[5]।

विषय वस्तु

आचारांग सूत्र पर लिखी हुई निर्युक्ति में ३४६ गाथाएँ हैं जिनमें अन्त की ७ गाथाएँ महापरिज्ञा अध्ययन पर हैं। आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखने के पूर्व सब सिद्धों को, जिनों को और अनुयोग-दायकों को नमस्कार किया है[6]। ८वीं गाथा में आचारांग की

---

१. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृष्ठ १७१.
२. आगम साहित्य; एक परिशीलन, पृष्ठ ५८.
३. आगम और व्याख्या साहित्य, पृष्ठ ५८.
४. वही पृष्ठ २८.
५. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० १७२.
६. वंदित्तु सव्वसिद्धे जिणे अ अणुओगदायए सव्वे।
आयारस्स भगवओ निज्जुत्ति कित्तइस्सामि॥ —निर्युक्ति १

प्रामाणिकता बताते हुए ११वीं गाथा में आचारांग का परिमाण प्रदर्शित किया है। १८-२७ तक की गाथाओं में ब्रह्म शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ बताये गये हैं। ४०-६० तककी गाथाओं में द्रव्य एवं भाव दिशाओं का वर्णन पाया जाता है। इसके बाद १७१ गाथापर्यन्त प्रथम अध्ययन शस्त्र परिज्ञा में वर्णित षट्काय के जीवों का विशद् वर्णन मिलता है। १७२ से १९५ तक २४ गाथाओं में द्वितीय अध्ययन के विषय संसार, कर्म और कषाय का स्पष्टीकरण है। आगे १८ गाथाओं में तृतीय अध्ययन की व्याख्या है। गाथा २१४ से लेकर २३४ तक सम्यक्त्व नामक चौथे अध्ययन के स्पष्टीकरण में दार्शनिक चिन्तन का प्रस्तुतीकरण है। 'सकुण्डलं वा वयणं नवत्ति' की पद पूर्ति २२८ से २३१ तक की गाथाओं में पायी जाती है। आगे की १७ गाथाओं में लोकसार नामक अध्ययन का स्पष्टीकरण पाया जाता है। २४९ से लेकर २५१ तक तीन गाथाओं में धूत नामक षष्ठ अध्ययन का परिचय मात्र मिलता है। महापरिज्ञा नामक सप्तम लुप्त अध्ययन पर सबसे अन्त में निर्युक्ति लिखी गई है। उन गाथाओं का क्रमांक ३५० से ३५६ तक है। २५२ से २७४ तक विमोक्ष नामक आठवें अध्ययन का वर्णन आता है। इसके बाद ११ गाथाओं में नवम अध्ययन की व्याख्या समाप्त करके प्रथम श्रुतस्कन्ध की समाप्ति की गई है। २८६ से लेकर ३४९ तक मात्र ६४ गाथाओं में द्वितीय श्रुतस्कन्ध की संक्षिप्त व्याख्या की गई है। आचारांग की चौथी चूलिका की व्याख्या समाप्त करके उद्देशकों की गणना प्रदर्शित की गई है[1]। निर्युक्ति में कई शब्दों के निक्षेप भी प्रदर्शित हैं[2]।

१. आयारस्स भगवओ चउत्थचूलाइ एस निज्जुत्ती।
पंचम चूलानिसीहं तस्स य उवरि भणीहामि ॥
सत्तहिं छहिं चउचउहि य पंचहि अट्ठ-ट्ठचउहि नायव्वा।
उद्देसणएहि पढमे सुयखंधे नव य अज्झयणा ॥
इक्कारस तिति दोदो दोदो उद्देसणेहि नायव्वा।
सत्तय अट्ठवनवमा इक्कतरा हुंति अज्झयणा ॥
—आचारांग निर्युक्ति, ३४७-३४९.

२. आचार (५) अंग (५) बंभ (१८) चरण (२९) सत्व (८६) परिण्णा (३७) सण्णा (३८) दिसा (४०) सम्म (२१६) विमुक्त (२५७) इरिया (३०८)।

२६४ में अज्जवइराणं और २६६ श्लोक में तो साली का कथन पाया जाता है।

इस तरह आचाराङ्ग की निर्युक्ति प्रथम श्रुतस्कन्ध पर ही अधिक है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का मात्र स्पर्श सा किया गया है। महापरिज्ञा अध्ययन पर सबसे अन्त में निर्युक्ति लिखा जाना यही सिद्ध करता है कि तब भी यह अध्ययन विलुप्त था।

चूर्णि

आचारांग सूत्र की व्याख्या में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान चूर्णि का आता है। आचारांग चूर्णि के कर्ता जिनदास गणी माने जाते हैं। इनके विद्यागुरु प्रद्युम्न क्षमाश्रमण थे। इनका उल्लेख निशीथ विशेष चूर्णि में आता है[1]। कई हस्तलिखित प्रतियों में चूर्णिकार का समय शक सम्वत् ५९८ (ईस्वी सन् ६७२) आया है परन्तु आनन्दसागर सूरि ने इनका समय शक सम्वत् ५०० (ई०स० ५७४) रखा है। इन्होंने २० ग्रन्थों पर चूर्णियाँ लिखी हैं[2]। चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई हैं। इनकी भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। यहाँ अनेक स्थलों पर नागार्जुनीय वाचना का साक्षीपूर्वक पाठ भेद प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या की गई है। आचारांग सूत्र और निर्युक्ति के प्रारम्भिक शब्दों का उल्लेख करके विषय को स्पष्ट किया है। स्पष्टीकरण का आधार निर्युक्ति ही है। बीच-बीच में संस्कृत[3] और प्राकृत[4] के अनेक लौकिक पद्य उद्धृत हैं। प्रत्येक शब्द को स्पष्ट करने के लिए एक विशिष्ट शैली

---

१. निसीह वि० चू०, पृष्ठ ३५७.

२. नन्दीचूर्णि की भूमिका, पृष्ठ २४.

३. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृष्ठ १६०.

४.५. यथा—ण तु भूषणमस्य गुज्यते, न च हास्यं कृत एव विभ्रमः।
अव तेषु प्रवर्तते जतो, भ्रूवमायाति परां प्रपञ्चनाम् ॥ पृ० ५३।
प्राणैः प्रियतराः पुत्राः पुत्रैः प्रियतरं धनम्,
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥ पृ० ५५।
कर्म्मणो जायते कर्म्म, ततः संजायते भवः।
भवाच्छरीर दुःखं च, ततश्चान्यतरो भवः ॥ पृ० ११०।

अपनाई गई है। मुअ, खुज्ज और वडभ आदि शब्दों के अर्थ[1] प्राकृत भाषा में समझाए गए हैं। चूर्णियों में प्राकृत की लौकिक व धार्मिक अनेक कथाएँ दी गई हैं। यह बात निश्चित है कि चूर्णि की शैली उसे प्राकृत-साहित्य और संस्कृत-साहित्य के मध्य में रखती है।

शीलांकसूरिकृत टीका

आचारांग सूत्र पर शीलांक सूरि (अपरनाम तत्वादित्य) ने टीका लिखी है। इसका उल्लेख आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की समाप्ति पर स्वयं लेखक ने किया है। उन्हें इस ग्रन्थ की टीका करने में श्री वाहरि साधु ने सहायता प्रदान की थी[2]। किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के बाद ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इन टीकाओं को हस्तलिखित भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न समय दिया है—शक सम्वत् ७७२, ७८४ और ७९८ (ई० सन् ८४६, ८५८ और ८७२)। इन तिथियों में से प्रो० एच० आर० कापडिया तीसरी तिथि अर्थात् शक सम्वत् ७९८ (ई० सन् ८७२) को ही सत्य मानते हैं[3]। उनके कथनानुसार शीलांकसूरि की दूसरी रचना चौपण्ण महापुरुषचरित है जिसकी रचना सम्वत् विक्रम सं. ९२५ (ई० सन् ८६९) में हुई है। यहाँ से यह भी ज्ञात होता है कि उनका वास्तविक नाम विमलमति था[4]। वाल्टर शुब्रिंग ने भी शीलांकसूरि का समय श० स० ७९८ (ई० सन् ८७२) निश्चित किया है[5]।

टीका प्रारम्भ करने के पूर्व टीकाकार ने सर्वज्ञदेव को नमस्कार किया। तदनन्तर आचारांग सूत्र की प्रामाणिकता एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए गन्धहस्तिकृत शस्त्र परिज्ञा-विवरण का सार लेने के

---

१. बाहरंतं ण सुणेति मूओ। खुज्जो वामणो वडभेति, अस्स वडभंपिट्ठी-एणि मार्व.

२. श्री शीलाचार्येण तत्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधु सहायेन कृता टीका।
—पृ० २८८.

३. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० १६७.

४. वही, पृ० १६७.

५. डाक्ट्राईन आफ जैन, पृ० ८२.

कारण उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की है[1]। टीका का आधार निर्युक्ति एवं चूर्णि ही है। स्पष्ट है कि यदि यह टीका सामने न रखी जाये तो निर्युक्ति और चूर्णि को समझना अत्यन्त दुरुह कार्य हो जाये। आचारांग सूत्र पर यह विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीका है। इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण पाया जाता है। भाषा प्राञ्जल है और उसमें भावों की गम्भीरता है। प्रथम श्रुतस्कन्धके अन्त में तिथि का निर्देश किया है। उसके अनुसार शक संवत् ७७२ भाद्रपद शुक्ल पंचमी को प्रथम श्रुतस्कन्ध की टीका समाप्त हुई थी[2]। दूसरे श्रुतस्कन्ध की टीका करने के पूर्व महावीर स्वामी को नमस्कार करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित की[3] है। ग्रन्थ की टीका की पूर्णता पर संसार के लोगों से आचार मार्ग पर चलने की कामना की गई है[4]।

१. शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च मन्दबुद्धीनाम्।
तस्मात् सुखबोधार्थं गुरूम्यहमञ्जसा सारम्॥
—आचारांग शीलांक टीका पृ० १.

२. द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
संवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम्॥
शीलाचार्येण कृता सम्भूतार्या स्थितेन टीकैषा।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः॥
कृत्वाऽऽचारस्य मया टीका यत्किमपि संचितं पुण्यम्।
तेनाप्नुयाज्जगदिदं निर्वृतिमतुलां सदाचारम्॥
वर्णः पदमथ वाक्यं पद्यादि च मन्मया परित्यक्तम्।
तच्छोधनीयमत्र च व्यामोहः कस्य नो भवति॥ वही, पृ० २८८।

३. नयत्यनादिपर्यन्तमनेकगुणरत्नभृत्। न्यक्कृताशेषतीर्थेशं, तीर्थं तीर्थाय घर्नुतम्॥
नमः श्रीवर्द्धमानायसदाचारविधायिने। प्रणताशेषगीर्वाणचूड़ारत्नार्चिताङ्घ्रये॥
आचारमेरोर्गदितस्य लेशतः, प्रवक्ष्मि तच्छेषिकचूलिकागतम्।
मारिप्सितेऽर्थे गुरवान् कृती सदा, जायेत निःशेषमशेषितक्रियः॥
वही, पृ. २८९.

४. आचारटीकाकारणे यदाप्तं, पुण्यं कथा मोक्षगमैक हेतुः।
तेनापनीयाशुभराशिमुच्चैराचार मार्ग प्रवणोस्तु लोकः॥ वही, पृ० ३९९.

अन्य टीकाएँ

आचारांग पर अन्य टीकाएँ भी लिखी गईं, उनमें से कुछ उपलब्ध हैं और कुछ अनुपलब्ध हैं।

(१) आचार्य शीलांक सूरि ने लिखा है कि गन्धिहस्तिन् ने आचारांग सूत्र के 'शस्त्र परिज्ञा' अध्ययन पर टीका लिखी है, उसी के सार को लेकर उन्होंने अपनी टीका लिखी है[१]। दुर्भाग्य से हमारे पास तक वह टीका नहीं आ पाई और बीच में ही लुप्त हो गई। (२) सम्वत् १५७१ में जिनहंस ने आचारांग सूत्र पर टीका लिखी[२]। (३) लक्ष्मी कोलोलगणि की टीका भी आचारांग सूत्र पर मिलती है[३]। (४) अजितदेवसूरि ने आचारांग सूत्र पर 'दीपिका' नामक टीका लिखी है। प्रारंभिक मंगलाचरण में लेखक ने लिखा है कि अल्पबुद्धि वाले लोगों के लिए यह टीका लिखी गई है[४]। इनका समय लगभग संवत् १६२१ मालूम पड़ता है क्योंकि श्री मोहनलाल देसाई ने जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास में ऐसा उल्लेख किया है कि चन्द्रगच्छी महेश्वरसूरि के शिष्य अजितदेवसूरि ने उत्तराध्ययन बालावबोधिनी टीका बनाई। उन्होंने आचारांग के ऊपर दीपिका नामक वृत्ति तथा आराधना की रचना की[५]।

इन टीकाओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के अनेक अनुवाद मिलते हैं जो अंग्रेजी हिन्दी और गुजराती भाषा में हैं।

---

१. शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्।
तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णामि-अहमञ्जसा सारम्॥
—आचारांग शीलांक टीका, पृ० १.

२. जैनग्रन्थावली के अनुसार पृ० २.

३. हिस्ट्री आफ दि केनानिकल लिटरेचर आफ जैन, पृ० १६६.

४. वर्द्धमानजिनो जीयाद भव्यानां वृद्धिदोऽनघम्।
बुद्धिवृद्धिकरी स्मार्कं ग्रन्थात् चैलोक्यं पावनः॥
श्री आचारांग सूत्रस्ये बृहद्वृत्ति सविस्तरा।
दुर्विगाहाऽल्पबुद्धीनां क्रियते तेन दीपिका॥—आचारांग दीपिका १।२

५. जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० ५८५.

महापरिज्ञा अध्ययन के विच्छेद का विचार

१. अध्ययनाधिकार

आचारांग सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध का नाम ब्रह्मचर्य है। इस श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन थे। इस बात को निर्युक्तिकार[1] और टीकाकार[2] दोनों ने स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। वर्तमान समय में आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठ अध्ययन प्राप्त हैं। महापरिज्ञा नामक अध्ययन विनष्ट हो गया है, ऐसा प्राचीन प्रवाद सुना जाता है।[3] महापरिज्ञा के स्थान के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। विधिमार्गप्रपा में उल्लेख मिलता है,[4] कि शीलांकाचार्य के मत से महापरिण्णा आठवाँ अध्ययन था, विमोक्षाध्ययन सातवाँ और उवहाणसुय नौवाँ। हरमन याकोबी ने आचारांग सूत्र की प्रस्तावना में यह लिखा है कि समवायांग, नन्दी, आवश्यक निर्युक्ति और विधिमार्गप्रपा में महापरिज्ञा का स्थान नौवाँ है।[5] निर्युक्तिकार ने आचारांग सूत्र का व्यवस्थित विवरण दिया है, जिसमें महापरिज्ञा को सातवें अध्ययन के अन्तर्गत लिया है।[6] इस प्रकार आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा का क्रम सातवाँ है, तदनुसार टीकाकार ने सातवें अध्ययन पर नाम महापरिज्ञा लिखा है।[7] शुब्रिंग[8] और

---

१. नवबंभचेरमइओ। आ० निर्युक्ति, श्लोक ११।

२. तत्र अध्ययनतो नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मकोऽयम्। आ० टीका, पृ० ५। प्रथमश्रुतस्कन्धे नवाऽध्ययनानि। आ० दीपिका, पृ० १।

३. आचारांग सूत्रम् (वाल्टर शुब्रिंग), पृ० २६।

४. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५१।

5. See Weber, Indischa Studien XVI NP. 251 Seq
आचारांग सूत्र, भूमिका, पृ० ४६।

६. सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्मत्तं।
तह लोगसारनामं धुयं तह महापरिण्णा य॥ आ० श्लोक ३१॥

७. उक्तं षष्ठमध्ययनं, अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरः। तच्च व्यवच्छिन्नं। आ० दीपिका, पृ० १८५। आ० टीका, पृ० २३५।

८. आचारांग सूत्रम्, पृ० २६।

हरमन याकोबी[1] ने महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ ही माना है। यही मत डॉक्ट्रीन आफ दी जैनाज्[2] और केनानिकल लिटरेचर आफ दी जैनाज्[3] में प्रदर्शित किया गया है।

२. उद्देशाधिकार

निर्युक्तिकार ने आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ५१ उद्देशक और दूसरे श्रुतस्कन्ध के ३४ उद्देशक गिनाए हैं, जिनमें सातवें अध्ययन महापरिज्ञा के ७ उद्देशक होते हैं।[4] इन उद्देशकों के नाम का उल्लेख नहीं पाया जाता है। हरमन याकोबी ने भी महापरिज्ञा नामक अध्ययन के ७ उद्देशक माने हैं।[5]

३. अर्थाधिकार

महापरिज्ञा अध्ययन में दो शब्द हैं—(१) महा और (२) परिज्ञा। महा का सामान्य अर्थ बड़ा या विशेष होता है। परिज्ञा का अर्थ है विवेक अर्थात् हेय-उपादेय का ज्ञान। परिज्ञा के दो भेद बतलाये गए हैं—(१) ज्ञ परिज्ञा और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा।[6] ज्ञ परिज्ञा के अन्तर्गत ज्ञान आता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा के अन्तर्गत आचरण या चारित्र आता है। इस प्रकार परिज्ञा का सामुदायिक अर्थ हुआ—हेय और उपादेय को जानकर, हेय का त्याग करना तथा उपादेय को अंगीकार करना। इस प्रकार महापरिज्ञा का अर्थ हमें विशेष ज्ञान और विशेष आचार लेना चाहिये।

---

१. सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट २२, भूमिका, पृ० ४६।

२. डॉक्ट्रीन आफ दी जैनाज्, पृष्ठ ८५।

३. केनानिकल लिटरेचर आफ दी जैनाज्, पृष्ठ ११२।

४. आ० निर्युक्ति श्लोक १६३, १६८, २३५ से २३८, २५०-२५१, २५३-२५७, और २८८ तथा ३, ७ से १०, ३०३, ३०४, ३११, ३१२, ३१४ और ३१५।

५. सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट २२, भूमिका, पृ० ४६ कलकत्ता मुद्रण प्रति १, पृ० ४३५।

६. तत्र द्रव्य परिज्ञा द्विधा—ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च, ज्ञपरिज्ञा आगमनो-आगममेदाद् द्विधा। प्रत्याख्यानपरिज्ञाऽप्येवमेव।—आ० टीका, पृ० १०।

४. विषयाधिकार

इस अध्ययन के विषय के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं, जिन्हें हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(क) परम्परा से मान्यता प्राप्त मत और (ख) शास्त्रीय मत।

(क) परम्परा से मान्यता प्राप्त मत—आचारांग सूत्र पर चिन्तामणि टीका लिखी गई है। इस टीका में सप्तम-अध्ययन महापरिज्ञा की विषय-सामग्री के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख आया है।[1] इसी सन्दर्भ में टीकाकार ने लिखा है कि यह बात उन्हें अपने आचार्य से मालूम हुई थी और आचार्य परम्परा से आई हुई बात निराधार नहीं होती। सातवाँ अध्ययन अनेक प्रकार के चामत्कारिक विषयों से, जो हेय-कोटि में माने गए हैं, परिपूरित था। शास्त्रों में प्रत्येक विषय का चाहे वह हेय हो या उपादेय हो, वर्णन होता है। इस अध्ययन को पढ़कर और सुनकर महापुरुषों ने इस अध्ययन में वर्णित विद्याओं को ज्ञ परिज्ञा से कर्मों के बन्ध कराने वाली जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका परिहार कर अपनी आत्मा का कल्याण किया है।

इस अध्ययन में जल, स्थल, आकाश और पाताल में विहार करने वाली विद्याओं का, पर-शरीर में प्रवेश कराने वाली विद्याओं का और सिंह-व्याघ्र आदि का शरीर धारण पूर्वक अपने रूप का परिवर्तन कराने वाली विद्याओं का वर्णन था। गुरु-परम्परा से ऐसा सुना जाता है कि कोई एक आचार्य महाराज एक समय यह अध्ययन अपने शिष्य को पढ़ा रहे थे। शौच-क्रिया की बाधा होने पर वे शौच-निवृत्ति के लिए बाहर गए, तब शिष्य ने बाल-सुलभ चंचलता से इस महापरिज्ञा के अध्ययन में कथित सिंह-शरीर को धारण कराने वाली विद्या का उपयोग किया और वह उसके प्रभाव से सिंह के स्वरूप में आ गया। वह सिंह स्वरूप के परावर्तन कराने वाली विद्या के अध्ययन से अपरिचित था इसलिए उससे छूटकर अपने असली रूप में नहीं आ सका। शौच से निवृत्त होकर जब आचार्य महाराज आये तब उन्होंने उसे सिंह के रूप में देखा। उसे देखकर उन्हें उसके ऊपर दया आई और उसे सिंह के रूप से मुनिरूप में परिवर्तित कर दिया। बाद में आचार्य ने विचार किया

१. आचार चिन्तामणि, व्याख्या, पृ० ३६३-३६५।

कि पंचम काल में इस अध्ययन के पठन से लाभ की तो आशा नहीं है, उल्टा महान् अनर्थ ही होगा। अतः उस समय से इस अध्ययन को पढ़ाना बन्द कर दिया गया। इसी कारण से शास्त्रों की रचना के समय में भी आचार्यों ने इस अध्ययन का संग्रह नहीं किया, फलतः इसका विच्छेद हो गया।

(ख) शास्त्रीय मत–निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के विषय का निर्देश करते हुए प्रारम्भ में कहा है[1]—जीव के मोह के कारण होने वाले परीषह और उपसर्गों का इसमें वर्णन था। चूर्णिकार का कहना है कि बिना आज्ञा या अधिकार के महापरिज्ञा अध्ययन नहीं पढ़ा जाना चाहिए।[2] टीकाकार ने छठवें अध्ययन के बाद और अष्टम अध्ययन के पूर्व इस अध्ययन की विषय-सामग्री के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला है।[3] महापरिज्ञा की निर्युक्ति अविवृत्त हो गई, अतः ७ श्लोकों में उसे उपन्यस्त किया गया।[4]

(ग) विद्वानों के अभिमत—१. हरमन याकोबी ने लिखा है कि महापरिज्ञा अध्ययन साधु-जीवन का कुछ विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता था, जिसका वर्णन आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में विस्तार से हुआ है। शायद इसी कारण से महापरिज्ञा अध्ययन का विच्छेद हो गया क्योंकि वह अध्ययन पुनरुक्त दोष वाला हो गया था।[5] २. पं० दलसुख मालवणिया ने लिखा है "संभव यह है कि यह अध्ययन किसी कारण से आचारांग सूत्र से पृथक् किया गया हो और

---

१. मोह समुत्था परीसहुवसग्गा। आ० नि० श्लोक ३४।

२. ओवातो महापरिण्णाए संबंधो पुव्वभणितो, णिक्खेवणिज्जुत्ती, तंजहा—मोहसमुत्था परीसहोवसग्गा परिजाणियव्वा, परिण्णाय कम्मस्स णिज्जाणं भवति, यदुक्तं भवति-मरणं संपत्तं, महापरिण्णा ण पढिज्जइ असमणुण्णाया तेसिंपि वुत्तणं विवेगं च करेइ। —आ० चूर्णि, पृ० २४४।

३. सप्तमे त्वयम्—संयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिन्मोहसमुत्थाः परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः। —आ० टीका, पृ० ६।

४. अविवृता निर्युक्तिरेषा महापरिज्ञायाः, अविवृता इत्यत्रोपन्यस्ताः।
—आ० टीका, पृ० ३६६-४००।

५. आचाराङ्ग सूत्र, भूमिका, पृ० ५०।

उसका अध्ययन-अध्यापन भी विशेष अधिकारी की अपेक्षा रखता हो, इसलिए उसका वाचन कम हो गया और धीरे-धीरे वह विच्छिन्न हो गया हो। अनगार मुनि के नाना प्रकार के मोहजन्य दोषों का ही उसमें वर्णन था, इसलिए वह सर्वसाधारण के लिए पठनीय नहीं रहा और आगे चलकर वह काल-कवलित हो गया। संभव है उस पर निर्युक्ति भी लिखी गई होगी किन्तु वह भी उसके साथ लुप्त हो गई।"[२]

५. समीक्षा

(क) **परम्परा से प्राप्त मत की समीक्षा**—परम्परा से प्राप्त मत के पक्ष में शास्त्रीय प्रमाण का अभाव होने से तथा टीका ग्रन्थों में इसके प्रतिकूल उल्लेख मिलने से इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। निर्युक्तिकार और चूर्णिकार इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि इस अध्ययन की विषय सामग्री में परीषह और उपसर्ग सम्मिलित थे। यह बात भी विचित्र मालूम पड़ती है कि हेय विषय का पूर्ण प्रतिपादन करके फिर उसे छोड़ने के लिए कहा जाये। मात्र इतना कह देने से भी काम चल सकता था कि साधु को चमत्कार के लिए या ऋद्धि-प्राप्ति के लिए कोई कार्य नहीं करना चाहिए। मंत्र-तंत्र की साधना की विधि बताना और फिर उसे हेय कोटि में करके लुप्त कहना, युक्तिसंगत नहीं लगता।

(ख) **शास्त्रीय मत की समीक्षा**—शास्त्रीय प्रमाण में उल्लेख आया है कि मोह से उत्पन्न परीषह और उपसर्ग को सहन करना चाहिए। यह बात साधु के लिए आज भी मानने योग्य है फिर इसकी विनष्टता का प्रश्न नहीं उठता। यह सर्वमान्य है कि साधु का जीवन संयम और तपस्या का जीवन है। उसकी साधना और तपस्या में कई प्रकार के विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। उन विघ्नों को पार किए बिना साधु अपनी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में महापरिज्ञा अध्ययन का क्या विच्छेद हो गया यह समस्या खड़ी हो जाती है, जिसका समाधान भी उतना ही आवश्यक है जितनी विषय सामग्री की खोज। टीकाकारों ने इस विषय में सम्भवतः अपनी कल्पना का ही सहारा लिया होगा।

---

२. श्रमण १९५७, आचाराङ्ग सूत्र-परिचय (विनय)।

उक्त दोनों मतों के समीकरण से एक नवीन ग्राह्य मत की सम्भावना हो सकती है। वह यह कि इस अध्ययन में साधु को कठिन तपस्या की विधि बतलाई गई होगी। निर्जरा के लिए तप एक आवश्यक कार्य है। इस अध्ययन के बाद विमोक्ष अध्ययन है और उसके पूर्व धुत अध्ययन। इन दोनों के बीच में निर्जरा के कारणभूत तपस्या का वर्णन उचित मालूम पड़ता है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। कर्म की निर्जरा होने पर इसमें कई प्रकार की ऋद्धि (शक्तियाँ) प्रकट हो जाती हैं। अतः इन्हीं ऋद्धियों के प्रादुर्भाव को ही इस अध्ययन की विषय सामग्री मान ली गई होगी। इस तरह मैं समझता हूँ कि इस अध्ययन में कठोर तपस्या का वर्णन रहा होगा। सभी साधु इसके पात्र नहीं हो सकते थे, इसलिए प्रत्येक साधु को इस अध्ययन का पठन-पाठन आवश्यक नहीं समझा गया होगा। धीरे-धीरे समयान्तर में उसका लोप हो गया होगा। यह भी संभव है कि आचार्यों ने इस कठोर साधना को अनुपयुक्त समझा हो या इसके योग्य स्वयं को असमर्थ पाकर चमत्कारिक विषयों की प्रतिपादक चर्चा लेकर इसका पठन-पाठन ही समाप्त कर दिया हो।

(ग) प्रो० याकोबी के मत की समीक्षा—प्रो० याकोबी ने वेबर के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सातवें अध्ययन की विषय-सामग्री आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित की गई थी, इसलिए उसका विच्छेद हो गया। किन्तु जिन-जिन विषयों का विस्तार द्वितीय श्रुतस्कन्ध में हुआ है, उनका नामोल्लेख आया है[1]। यदि यह बात मान भी ली जाये तो आचाराङ्ग सूत्र के अन्य अध्ययनों में आने वाले उन सूत्रों का भी विच्छेद हो जाना चाहिए था, जिनका विस्तार से वर्णन किया गया है। मालूम पड़ता है वेबर की धारणा निर्युक्तिकार के निम्न श्लोक से उत्पन्न हुई है—

सत्तवि निज्जूढाइं महापरिन्नाओ।[2]

शीलांकाचार्य ने लिखा है कि महापरिज्ञा अध्ययन के सात

---

१. आ० टीका, पृ० २८६।

२. आ० नि० २६०।

उद्देशकों को सप्तैकका में अवतारित किया गया है[1]। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शीलांकाचार्य ने जहाँ इस बात की चर्चा की है वहाँ प्रत्येक अध्ययन के सूत्रों का भी उल्लेख किया है, लेकिन महापरिज्ञा के किसी भी सूत्र का उल्लेख नहीं किया है। मालूम पड़ता है कि टीकाकार इस तर्क से कि महापरिज्ञा की विषय-सामग्री द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आई है, ग्रन्थ की पूर्णता सिद्ध करना चाहता है।

(घ) पं० दलसुख मालवणिया के मत की समीक्षा और उपसंहार– इस सम्बन्ध में पं० दलसुख मालवणिया का मत तर्कसंगत मालूम पड़ता है कि महापरिज्ञा का अध्ययन-अध्यापन विशेष अधिकारी की अपेक्षा रखता होगा, जिससे उसका वाचन कम हो गया और धीरे-धीरे वह विच्छिन्न हो गया। परन्तु उनका यह अनुमान करना कि इस अध्ययन पर निर्युक्ति भी लिखी गई होगी जो उसके साथ ही लुप्त हो गई, उचित मालूम नहीं पड़ता क्योंकि इसकी पुष्टि के लिए प्रमाण का अभाव तो है ही, साथ ही निर्युक्तिकार ने जिस व्यवस्थित ढंग से प्रत्येक अध्ययन को प्रतिपादित किया है, उसी ढंग से इस अध्ययन की विषय-सामग्री के बारे में कहीं न कहीं उल्लेख अवश्य किया होता। मुझे तो प्रतीत होता है कि स्वयं निर्युक्तिकार को आचाराङ्ग सूत्र का सातवाँ अध्ययन नहीं मिल सका, इसलिए उसकी निर्युक्ति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

●

१. तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्युढाः। —आ० टीका, पृ० २६०।

आचारांग की विषयवस्तु

समवायांग में आचारांग के विषयों का निर्देश है कि इसमें श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चंक्रमण, प्रमाण, योगयुंजन, भाषासमिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम, उत्पादन, एषणा, विशुद्धि, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि के प्रशस्त कथन हैं।[1] नन्दीसूत्र में कहा गया है कि आचारांग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरणकरण, यात्रा-मात्रा आदि का कथन है।[2] अजितदेवसूरि ने दीपिका टीका में बतलाया है कि आचाराङ्ग में मोक्ष के अंगभूत ज्ञान-आचार आदि का प्ररूपण है।[3] निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचार को आचार, आचाल, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, अंग, आचीर्ण, आजाति, और आमोक्ष इन १० प्रकार के शब्दों का आश्रय लेकर समझाया है।[4] टीकाकार ने इन्हीं का आधार लेकर विशेष विश्लेषण किया है, जिससे आचारांग के विषयों पर प्रकाश पड़ता है।

आचार के ५ भेद हैं।[5]

१. ज्ञानाचार (इसके आठ भेद होते हैं)।
२. दर्शनाचार (इसके आठ भेद होते हैं)।
३. चारित्राचार (इसके आठ भेद होते हैं)।
४. तपाचार (इसके बारह भेद होते हैं)।
५. वीर्याचार (इसके अनेक भेद होते हैं)।

आचाराङ्ग में आचार के इन्हीं पाँच भेदों का वर्णन है।

---

१. समवायांग सूत्र, पृ० २३।
२. नन्दीसूत्र, श्लोक ५४।
३. ज्ञानाचारादीनांमोक्षांगभूतानामिह प्ररूपणादाचारांगम्।
आ० दीपिका, पृ० १।
४. आयारो आचालो आगालो आगरो य आसासो।
आयरिसो अंगंति य आइण्णाऽऽजाइ आमोक्खा॥ आ० नि० ७।
५. एष पंचविध आचारः। आ० टीका, पृ० ५।

अध्ययन-क्रमानुसार विषय-परिचय

प्रथम श्रुतस्कन्ध

इस श्रुतस्कन्ध का नाम 'ब्रह्मचर्य' है, जिसका वर्णन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। इस श्रुतस्कन्ध में ५१ उद्देशक हैं, जो ९ अध्ययनों में विभक्त हैं। वर्तमान में महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त होने से यहाँ क्रमशः ८ अध्ययनों का उद्देशक-क्रमानुसार परिचय दिया जा रहा है—

प्रथम अध्ययन : शस्त्र-परिज्ञा

इस अध्ययन में ७ उद्देशक हैं तथा इस अध्ययन का नाम है—'शस्त्र-परिज्ञा'। शस्त्र-परिज्ञा में दो पद हैं—शस्त्र और परिज्ञा। 'शस्त्र' शब्द का अर्थ है—'हिंसा का साधनभूत उपकरण'। यह दो प्रकार का होता है—द्रव्यशस्त्र है और भावशस्त्र। द्रव्यशस्त्र से तात्पर्य है—'हथियार', जिनसे हिंसा की जाती है। भावशस्त्र से तात्पर्य है—'अशुभ-भाव' जिनसे प्रेरित होकर जीव हिंसादि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। 'परिज्ञा' शब्द का सामान्य अर्थ है—'विवेकज्ञान'। परिज्ञा के भी दो भेद किये गये हैं—ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ परिज्ञा का अर्थ है—संसार के कारणभूत राग-द्वेषादि अशुभ भावों का परिज्ञान। प्रत्याख्यान परिज्ञा का अर्थ है—'रागद्वेषादि अशुभ योगों का परित्याग' अर्थात् संसार में कारणभूत संयम अथवा त्याग की साधना में प्रवृत्ति। इस तरह परिज्ञा शब्द के द्वारा ज्ञान और क्रिया का समन्वय सूचित होता है।

जैन धर्म ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष मानता है। यदि ज्ञान और क्रिया परस्पर निरपेक्ष हों तो वे इष्ट के साधक नहीं हो सकते हैं। क्रिया-रहित ज्ञान पंगु है और ज्ञान-रहित क्रिया अन्धी है। इस तरह इस अध्ययन में संसार से निवृत्ति का मूलकारण 'अहिंसा' का प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा की भावना आते ही जीव हिंसा से विरक्त होकर त्यागमय जीवन-यापन करने लगता है। अहिंसा की सूक्ष्मता को बतलाने के लिये आवश्यकता थी 'आत्मा के अस्तित्व के बोध की'। आत्मा के अस्तित्व का बोध होने के पश्चात् यह ज्ञान आवश्यक था कि आत्मा का अस्तित्व कहाँ-कहाँ है, तभी व्यक्ति पूर्ण

अहिंसक बन सकता है, अतः आचारांग के इस अध्ययन में पृथिव्यादि में भी जीवत्व सिद्ध करके उनकी हिंसा से विरत रहने का उपदेश दिया गया है। उद्देशक के क्रमानुसार विषय-परिचय निम्न प्रकार है—

प्रथम उद्देशक (आत्मवादी कौन)

इसमें आत्मा की नित्यता का दिग्दर्शन कराया गया है। सामान्यतः जीवों को यह ज्ञान नहीं होता कि वे पूर्व जन्म में क्या थे और मरकर दूसरे जन्म में क्या होंगे ? लेकिन कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो विशिष्ट जाति-स्मरण से अथवा तीर्थंकर के कथन से पूर्व-पर जन्म की बातों को जान लेते हैं। जिसने आत्मा की नित्यता को समझ लिया, वही 'आत्मवादी' है। प्रसंगतः आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का भी वर्णन किया गया है।

द्वितीय उद्देशक (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश)

अहिंसक वह है जो पृथ्वीकाय को भी शस्त्र आदि द्वारा नष्ट नहीं करता है क्योंकि पृथ्वीकाय में भी जीव है। एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय के जीवों की अव्यक्त वेदना गूँगे व्यक्ति की तरह होती है।

तृतीय उद्देशक (अप्कायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश)

जलकाय में भी आत्मा का अस्तित्व है। कई साधु ऐसे हैं जो जलकाय के जीवों का अपघात करते हैं और उसमें धर्म मानते हैं। ग्रन्थकार ने इसका निषेध किया है। यहाँ यह भी बतलाया है कि अप्काय की हिंसा करने में चोरी का पाप लगता है। मनुस्मृति में भी हिंसक को चोर बतलाया गया है।

चतुर्थ उद्देशक (अग्निकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश)

अग्निकायिक में सचेतनता है। इसलिये इनका (अग्निकायिक जीवों का) भी अपघात नहीं करना चाहिए। अपघात न करने वाला व्यक्ति ही संयम धारण कर सकता है। जो प्रमादी है अथवा इन्द्रिय-सुखों का अभिलाषी है, वही हिंसा करता है। बुद्धिमान् पुरुषों को इसका त्याग करना चाहिए। अग्नि को जलाने से तथा उसे बुझाने से भी हिंसा होती है। अग्नि का आरम्भ करने से केवल अग्निकाय की ही हिंसा नहीं होती, किन्तु अनेक त्रसजीवों की भी हिंसा होती है।

पंचम उद्देशक (वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश)

वनस्पतियों का जीवत्व आज विज्ञान-सम्मत भी है। वनस्पति की हिंसा अकल्याण और मिथ्यात्व का कारण होती है। अतः वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

षष्ठ उद्देशक (त्रसकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश)

ग्रंथ में त्रस जीवों के भेद निम्न प्रकार से बतलाये गए हैं :—

१. अंडज—अंडों से उत्पन्न होने वाले। जैसे—कपोत आदि पक्षी।

२. पोतज—पोत (चर्ममय थैली) से उत्पन्न होने वाले। जैसे—हाथी आदि पशु।

३. जरायुज—जरायु से उत्पन्न होने वाले। जैसे—गाय, मनुष्य आदि पशु एवं मानव।

४. रसज—खाद्य पदार्थों के रस के विकृत होने पर उत्पन्न होने वाले। जैसे—खट्टे दधि आदि में उत्पन्न कृमि आदि।

५. संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले। जैसे—लीख आदि।

६. समूर्च्छन—स्त्री-पुरुष के संसर्ग के बिना स्वतः उत्पन्न होने वाले। जैसे—चींटी, मच्छर आदि।

७. उद्भिज—जमीन का भेदन करके उत्पन्न होने वाले। जैसे—पतंगे आदि।

८. औपपातिक—सोकर उठते हुए के समान उत्पन्न होने वाले। जैसे—देवता एवं नारकी।

त्रसकाय और स्थावरकाय के जीवों में साम्यता बतलाते हुए कहा गया है कि प्रत्येक सुख चाहता है। यह सुख सभी को प्रिय है और दुःख सभी को भयरूप है। अतः 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का व्यवहार करना कल्याणरूप है। बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है कि वह अहिंसा-तत्त्व को समझे। इसी सन्दर्भ में देवता आदि को प्रसन्न करने के लिए यज्ञादि में की गई हिंसा को अज्ञानमूलक बतलाया गया है।

सप्तम उद्देशक (वायुकायिक जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश)

वायु ही है शरीर जिनका, उन्हें वायुकायिक जीव कहा जाता है। ऐसे वायुकायिक जीवों के वध का जो समारम्भ करता है, उसे आरम्भ

की क्रियाओं का विवेक नहीं होता है। अतः मतिमान् का कर्तव्य है कि वह हिंसा के परिणाम को जानकर वायुकायिक की हिंसा न करे।

इस तरह जीव का अस्तित्व, कर्मबन्ध का कारण और मोक्ष इन तत्त्वों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्म-विकास के लिए विचार, विवेक और संयम की आवश्यकता है। अहिंसा ही संयम है। सब प्राणी समान हैं। सब सुख चाहते हैं। दुःख से डरते हैं। अतः अपने समान ही सब प्राणियों को समझकर उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस अध्याय में त्रसकाय के जीवों के निरूपण के बाद वायुकाय के जीवों का निरूपण चिन्त्य है। सम्भवतः उसकी सूक्ष्मता ही उसमें हेतु हो।

द्वितीय अध्ययन : लोक-विजय

इस अध्ययन का नाम लोक-विजय है। लोक का अर्थ है-'संसार'। संसार दो प्रकार का है—बाह्य संसार और आभ्यन्तर संसार। माता-पिता धन-सम्पत्ति, भूमि आदि बाह्य संसार (द्रव्यलोक) है तथा बाह्य संसार (भावलोक) के संसर्ग से उत्पन्न होने वाली आसक्ति, राग, द्वेष, मोह आदि आभ्यन्तर संसार हैं। यथार्थ में आभ्यन्तर संसार पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची लोक-विजय है। टीकाकार ने इस अध्ययन का सम्बन्ध शस्त्र-परिज्ञा से ही बतलाया है।[1] निर्युक्तिकार के अनुसार इस अध्ययन में निम्न ६ बातों का वर्णन पाया जाता है[2]—

(१) स्वजन में प्रेम नहीं करना।
(२) संयम में अदृढ़त्व नहीं करना।
(३) मान नहीं करना।

---

१. अधिगतशस्त्रपरिज्ञासूत्रार्थस्य ततप्रतिपादितैकेन्द्रियपृथिवीकायादिश्रद्दधानस्य सम्यक् तद्रक्षापरिणामवतः सर्वोपाधिशुद्धस्य तथोन्मूलयाऽऽरोपितपंचमहाव्रतभारस्य साधोर्यथारागादिकषायलोकस्य शब्दादि विषयलोकस्य वा विजयो भवति तथाऽनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते।

—आ० टीका, पृ० ७४।

२. सयणे य अदढत्तं बीयंमि माणो अ अत्थसारो अ।
भोगेसु लोगनिस्साइ लोगे अममिज्जया चेव॥ आ० नि० १७२।

(४) भोग में लीनता नहीं रखना।
(५) लोक निस्सृत।
(६) अममता।

इस अध्ययन में छः उद्देशक हैं। उद्देशक-क्रमानुसार विषय निरूपण निम्न प्रकार है—

प्रथम उद्देशक (मोह-त्याग)

इसका प्रथम सूत्र है 'जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे' अर्थात् जो गुण (विषय) हैं वे मूलस्थान (संसार) हैं और जो मूलस्थान हैं वे गुण हैं। विषय-कषाय ही संसार है। इन्हीं कारणों से व्यक्ति अपने परिवार में मोह करता है। प्रसंगात् वृद्धावस्था के दुःखों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि दुःखों के उपस्थित होने पर उसके परिवार के लोग उसके सहायक नहीं होते हैं। धन-वैभव भी त्राण और शरण रूप नहीं हैं। अतः आत्म-हित के लिए मोहत्याग-रूप प्रयत्न करना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक (संयम)

मोहत्याग के बाद मुक्ति की साधना में संयम का प्रथम स्थान है। मुनि होकर भी जो संयम का पालन न करके मोह के जाल में फंसे रहते हैं, वे अपने मुनि-वेश को लजाते हैं—'विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो'।

तृतीय उद्देशक (मानत्याग)

कभी-कभी संयमी को अपने गोत्र आदि का अभिमान हो जाता है। उसे उस अभिमान का त्याग करना चाहिए। उच्च गोत्र का अभिमान करना निरर्थक है क्योंकि इस आत्मा ने अनेक बार उच्च गोत्र में और अनंत बार नीच गोत्र में जन्म लिया है। इसी प्रकार अपने शरीर का भी घमंड नहीं करना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक (विषय-त्याग)

विषयाभिलाषा बड़े-बड़े संयमियों को डिगा देती है। अतः विषयत्याग आवश्यक है। काम-भोगों की आसक्ति से रोग उत्पन्न होते हैं। रोगी को स्वयं दुःख उठाना पड़ता है। स्नेही जन भी दुःख बटा नहीं सकते हैं। अतएव आचार्य धीरपुरुष को विषयत्याग का उपदेश देते हैं—'आसं च छंदं च विगिंच धीरे।'

पंचम उद्देशक (ममता के त्याग का फल)

मुनि दूषित आहार न तो स्वयं ग्रहण करे, न कराये और न करने वालों की अनुमोदना करे। वह क्रय-विक्रय से भी दूर रहे। जो भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षणज्ञ, विनयज्ञ, स्वसमयपरसमयज्ञ और भावज्ञ होता है, जो परिग्रह में ममता नहीं रखता है वह रागद्वेष को छेदकर मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है और विषयों में आसक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है।

षष्ठ उद्देशक (मुनि का उपदेश)

यदि कदाचित् कोई मुनि षट्काय के जीवों में से किसी एक काय का समारम्भ करता है, तो वह षट्काय के जीवों में से प्रत्येक का आरम्भ करने वाला माना जाता है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्म-जन्मान्तर करता है। जो ममत्व बुद्धि को छोड़ता है, वह परिग्रह को छोड़ता है। मुनि समदृष्टि होता है। उसके सामने धनी और गरीब एक बराबर होते हैं। वह दोनों के लिए एक सा उपदेश देता है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

जब जीवात्मा आत्मस्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में अहन्ता का आरोप करता है, तब ममत्वबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। जब ममत्व-बुद्धि में आत्मज्ञान भुला दिया जाता है और चैतन्य जड़ के वशीभूत हो जाता है तभी कर्म-बन्धन होता है, संसार होता है, दुःख होता है। इसीलिए दुःख से मुक्ति पाने के लिए ममत्व-भाव का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। यही सच्ची लोकविजय है।

तृतीय अध्ययन : शीतोष्ण

तृतीय अध्ययन के उद्देशकों का विषय-विवरण देते हुए निर्युक्ति-कार लिखते हैं कि गृहस्थ भावनिद्रा में सोये हुए हैं, और वे दुःख का अनुभव कर रहे हैं। साधु संयम, कषायनिग्रह एवं पापकर्म से विरति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति कर सकता है।[1] इस अध्ययन का नाम शीतोष्ण

१. पढमे सुत्ता असंजयंति बिइए दुहं अणुहवंति।
तइए न हु दुक्खेणं अकरणयाए व समणुंति॥ आ० नि० १९७॥
उद्देसंमि चउत्थे अहिगारो उ कसायं।
पावविरईओ विउणो उ संजमो इत्थ मुक्खुत्ति॥ आ० नि० १९८॥

है जो शीत और उष्ण इन दो शब्दों के मेल से बना है। टीकाकार ने जीव के ६ असाधारण भावों को शीत एवं उष्ण दोनों विभागों में विभाजित किया है।[1] निर्युक्ति में कहा गया है कि परीषह, प्रमाद उपशम, विरति और सातावेदनीय ये भाव शीत हैं और परीषह, तप में उद्यम, कषाय, शोक, वेद, अरति और असातावेदनीय ये भाव उष्ण हैं।[2] परीषह को शीत और उष्ण दोनों में गिनाया गया है, उसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं निर्युक्तिकार का कथन है कि स्त्री परीषह और सत्कार परीषह ये दोनों शीत परीषह हैं और शेष २० परीषह उष्ण हैं।[3] अन्य प्रकार से ऐसा कथन भी है कि जो तीव्र परिणामी परीषह हैं वे उष्ण हैं तथा जो मन्द परिणामी हैं वे शीत हैं।[4] अन्त में निर्युक्तिकार ने संयम को शीत और असंयम को उष्ण बताकर संयम रखने का उपदेश दिया है।[5] इस अध्ययन के कथन का उद्देश्य है कि साधु हर्ष-शोक से परे रह सकने की शक्ति प्रकट करे क्योंकि समभाव का विकास ही मोक्ष का हेतु है। इस अध्ययन के चारों उद्देशकों की विषयवस्तु क्रमशः निम्न प्रकार है—

प्रथम उद्देशक (मुक्ति के साधन)

'सुता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति' इस सूत्र की तुलना

---

१. औदयिकादयः षड्भावाः, तत्रौदयिकः कर्मोदयाविर्भूतनारकादिभवकषायोत्पत्तिलक्षणः उष्णः, औपशमिकः कर्मोपशमाद्यात्मसम्यक्त्वविरतिरूपः शीतः, क्षायिकोऽपि शीत एव, क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रादिरूपत्वात्, अथवाऽशेषकर्मशैत्यान्यथानुपपत्तेरुष्णः शेषा अपि विवक्षातो द्विरूपा अपीति।—आ० टीका, पृ० १३५।

२. सीयं परीसह पमायुवसमविरई सुहं च उण्हं तु।
परीसहतवुज्जमकसाय सोगवेयारई दुक्खं॥ आ० नि० २०१॥

३. इत्थी सक्कारपरीसहो य दो भावसीयला एए।
सेसा सीयं उण्हा परीसहा हुंति नायव्वा॥ वही २०२॥

४. जे तिव्वपरिणामा परीसहा ते भवंति उण्हा उ।
जे मंदपरिणामा परीसहा ते भवे सीया॥ वही २०३॥

५. अभयकरो जीवाणं सीयघरो संजमो भवइ सीओ।
असंजमो य उण्हो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥ वही २०६॥

भगवद्गीता के 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥' इस श्लोक से की जा सकती है।[1] पाप दुःखरूप है। इसलिए आत्मसंयमी पापों से दूर रहता है। जो प्रज्ञा के द्वारा लोक के स्वरूप को अच्छी तरह से जानता है, वही मुनि कहलाता है। मायावी और प्रमादी मनुष्य पुनः-पुनः गर्भावास करता है। शब्द, रूप आदि विषयों में उदासीन, सरल और जन्म-मरण से डरने वाला पुरुष मृत्यु से छुटकारा पा जाता है। अतः साधु रागद्वेष से दूर रहे और संयम में पराक्रम करे।

द्वितीय उद्देशक (संयम)

हिंसा से बचने के साथ ही साथ हिंसक की संगति से दूर रहना चाहिए। 'अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी' जो मुनि संसार के दुःखों से डरता है, रागद्वेषरहित होकर समभाव से जीवन बिताता है, इन्द्रियों और मन को शान्त करता है, वही सदा अप्रमत्त रहकर पुरुषार्थ करता है और संयम के मार्ग में आगे बढ़ता है। संयम में लीन रहने वाला 'मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ'।

तृतीय उद्देशक (स्वावलम्बन)

जो मुनि रागद्वेष से रहित आचरण करता है, वह सांसारिक दुःखों को प्राप्त नहीं करता। महर्षि का कर्त्तव्य है कि वह अपनी भूतकालीन अवस्थाओं पर विचार करके वर्तमान में ऐसा कार्य करे, जिससे उसके भविष्य में सुधार हो। क्या दुःख और क्या सुख ? इनमें गृद्ध न होकर संयम का पालन करे। अपना कल्याण अपने से ही होगा—'पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि।' भगवद्गीता के श्लोक 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'[2] से कितना मेल खाता है। इसी प्रकार धम्मपद का 'अत्ता हि अत्तनो गति' कितनी साम्यता रखता है। जो मुनि निर्जरा करता है, वही मुनि मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सत्य धर्म का पालन करने वाला ही संसार को पार कर सकता है। संयमी साधक लोक के प्रपंचों से मुक्त हो जाता है।

चतुर्थ उद्देशक (मोक्षाधिकारी)

कषायत्याग करने वाला ही कर्मों का संवर और निर्जरा कर

---

१. भगवद्गीता, २।६९. २. वही ६।५.

सकता है। साधु को अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए। असंयमी जीवन की इच्छा भी नहीं करना चाहिए। जिसने मोह क्षय कर दिया है, वही वीर है, वही कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कषाय ही संसार का मूल कारण है। संसार के छेदन कार्य में संलग्न साधु का कर्त्तव्य है कि वह कषाय का त्याग करे। कषाय त्याग से शान्ति मिलती है। बिना कषायत्याग के सभी अन्य त्याग व्यर्थ हैं। साधना का मूल सार कषाय का त्याग है। इसी से साधना सफल हो सकती है।

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन की विषयवस्तु का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि इसके प्रथम उद्देशक में सम्यग्वाद का, दूसरे उद्देशक में धर्मप्रवादिक परीक्षा का, तीसरे में निर्दोष तप का और चौथे उद्देशक में संक्षेपतः नियमों का वर्णन किया गया है। टीकाकार के अनुसार इस अध्ययन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्-चरित्र का वर्णन है। मोक्ष की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही मोक्ष का मार्ग बताया है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है निर्मलदृष्टि, सच्ची श्रद्धा और सच्चा लक्ष्य। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र मिथ्या है। सम्यक्त्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, जो संसारावस्था में दर्शन मोक्ष कर्म के कारण आवृत्त रहता है। इस अध्ययन के उद्देशकों की विषयवस्तु निम्न क्रमानुसार है—

प्रथम उद्देशक (अहिंसा)

अहिंसा ही सच्चा धर्म है। यही भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म है। अहिंसामय धर्म को समझकर उस पर पूर्ण श्रद्धा करे। विलास हिंसा के पथिक हैं। हिंसा और धर्म एक साथ नहीं रह सकते। अतः अहिंसा की उपासना करते हुए सदा जागृत रहना चाहिये।

द्वितीय उद्देशक (आस्रव और निर्जरा की भावाधीनता)

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा' अर्थात् जो आस्रव के स्थान हैं, वे निर्जरा के भी स्थान हैं। जो निर्जरा के स्थान हैं, वे आस्रव के भी स्थान हैं। इसकी कसौटी है भावनाओं की विशुद्धता एवं अविशुद्धता। इसी विषय का विवेचन करते हुए सम्यक्त्व को इस

उद्देशक में स्पष्ट किया गया है। जो श्रमण और ब्राह्मण यज्ञादि में निहित हिंसा को निर्दोष बतलाते हैं, वे अनार्य हैं और उनका कथन मिथ्या है।

तृतीय उद्देशक (कषाय-निग्रह)

कषाय का एक भेद है 'क्रोध'। क्रोध दुःख की जड़ है। अतः क्रोध का त्याग करना चाहिए। क्रोध के मूल में है राग। अतः ग्रन्थ में कहा है 'इह आगंकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं' भगवान् की आज्ञा में चलने वाला पंडित वही है जो स्नेह (राग) से रहित होकर एवं आत्मा के एकत्व को समझकर शरीर को सुखा देता है। राग पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि पाखण्डी लोगों से दूर रहा जाय एवं सावद्य पदार्थों का सेवन न किया जाय।

चतुर्थ उद्देशक (संयम)

तप को सार्थक बनाने के लिये संयम की आवश्यकता है। तप की शोभा संयम और संयम की शोभा तप से होती है। ग्रन्थ में कहा है—'अणियट्टगामीणं मग्गो दुणुचरो' अर्थात् मोक्षार्थी (अनिवर्तगामियों) का मार्ग अत्यन्त दुष्कर है। जो ब्रह्मचर्य में वास करता हुआ कर्मों को धुनता है, वही वीर पुरुष संयमी और अनुकरणीय कहा जाता है। अज्ञानी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं कि नेत्र आदि इन्द्रियों के विषयों को रोककर भी जो कर्मास्रव में आसक्त होता है, वही अज्ञानी है। अज्ञानी के बन्धनों का विनाश नहीं होता है।

प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य सुख प्राप्ति है। सच्चा सुख मुक्ति में है। मुक्तिप्राप्ति के लिये सम्यक्त्व का प्रकट होना अनिवार्य है। सम्यग्दृष्टि के क्या कर्तव्य हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि सम्यग्-दृष्टि को धर्म का पालन करना चाहिये। सच्चा धर्म क्या है? अहिंसा। हिंसा पाप है। अहिंसा धर्म का पालक इच्छाओं को वश में करने का प्रयत्न करता है। वह ऐसे लोगों का साथ नहीं करता जो अधर्मी हों। कषायों का त्याग करता है। संयम और तप की साधना करता है। ऐसा प्राणी ही सम्यक्त्व का सच्चा आराधक है।

पंचम अध्ययन : लोकसार

इस अध्ययन का नाम है 'लोकसार'। यह लोक और सार इन दो शब्दों का सामासिक शब्द है। लोक का अर्थ है—'संसार' चौदह राजु

प्रमाण लोक। सार शब्द का अर्थ है—'प्रधान तत्त्व'। अतः लोक-सार का अर्थ हुआ—'संसार का प्रधानतत्त्व'। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से लोकसार होगा—धर्म या चारित्र। वृत्तिकार ने इसी अर्थ का अनुसरण करते हुये कहा है—

प्रश्न—लोगस्स उ को सारो ? तस्स य सारस्स को हवइ सारो ?
तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साहू।
उत्तर—लोगस्स सार धम्मो धम्मपि य नाणसारियं बिंति।
नाणं संजमसारं संजम सारं च निव्वाणं॥

अर्थात्—लोक का सार है—'धर्म',
धर्म का सार है—'ज्ञान',
ज्ञान का सार है—'संयम',
और संयम का सार है—'निर्वाण'।

इस तरह इस अध्ययन में संयमी और असंयमी साधु का ही निर्वचन प्रमुख रूप से किया गया है। इसमें ६ उद्देशक हैं, जिनकी विषयवस्तु निम्न प्रकार है।

प्रथम उद्देशक (अज्ञानता)

षट्काय जीवों की हिंसा करने वाला और विषयों में तल्लीन रहने वाला मनुष्य संसार से पार नहीं हो सकता। 'जे छेए से सागारियं न सेवइ' जो कुशल है, वह मैथुन का सेवन नहीं करता। विषयों में आसक्त रहना ही अज्ञानता है। अज्ञानी जीव 'असरणं सरणं ति मन्नमाणे पावेहिं कम्मेहिं रमइ' अशरणरूप सावद्यानुष्ठान को शरण रूप मानता हुआ पापकर्मों में रमण करता है।

द्वितीय उद्देशक (मुनि के कर्त्तव्य)

मुनि का कर्त्तव्य है कि वह हिंसादि में प्रवृत्त न होता हुआ परीषहों और उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करे।

तृतीय उद्देशक (साम्यभाव)

'समियाए धम्मे आरिएहि पवेइए' आर्य तीर्थंकरों ने समता में ही धर्म कहा है। समताभाव धारण करने वाले व्यक्ति को देखिये—

जो चन्दणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा व तच्छेइ।
संथुणइ जो अ णिंदति महेसिणो तत्थ समभावा॥

मानव जीवन का लक्ष्य चरम विजय है। विजय की प्राप्ति के लिये शत्रुओं को पराजित करना पड़ता है। शत्रु दो प्रकार के हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची विजय है। अतः कहा है—'इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ'···जुद्धारिहं खलु दुल्लहं'। इस औदारिक शरीर से युद्ध करो, बाह्य युद्ध से क्या प्रयोजन। युद्ध के योग्य औदारिक शरीर का मिलना दुर्लभ है।

चतुर्थ उद्देशक (संघ की आवश्यकता)

एकल विहारी मुनि का निषेध किया गया है क्योंकि वह संयम के लिये हानिकारक है। सावधानी तथा जागृति की प्रेरणा के लिये साधु को संघ में रहने के लिये कहा गया है।

पंचम उद्देशक (ज्ञानस्वभावी आत्मा)

साधु को निर्मल सम्यग्दर्शन का पालन करना चाहिये। सरल स्वभाव वाला साधु अपने मन में विचार करता है कि जो हन्तव्य है वह मैं ही हूं, जो आज्ञा करने योग्य है वह मैं ही हूं। जिसे परिताप पहुंचाना है वह भी मैं ही हूं। अतः दूसरे की हिंसा नहीं करना चाहिये। यह आत्मा ज्ञान दर्शन का पिण्ड है। ज्ञान आत्मा से पृथक् वस्तु नहीं है 'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया'। जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है।

षष्ठ उद्देशक (मुक्त जीव)

मोक्षार्थी वीर पुरुष हमेशा शास्त्रों का अवलम्बन लेकर पराक्रम करे। आसक्ति ही कर्मबन्ध का कारण है। कर्मबन्ध के समाप्त होने पर मुक्त जीव का क्या स्वरूप है, इसका उद्देशक के अन्त में वर्णन किया गया है। वह मुक्त जीव अनिर्वचनीय है। वह शरीरादि से रहित वाणी से अगोचर, कल्पनातीत और बुद्धि से परे है। वह सहज आनन्द केवल अनुभववेद्य है।

त्याग और संयम के लिये हृदय की पवित्रता आवश्यक है। जो दुःख, व्याधि या संकट आते हैं, उनके कारण कर्म ही हैं। दुःख को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। अतएव इन दुःखों को समभाव से सहन करना चाहिये। संसार के प्राणी व्याकुल हैं। इस अवस्था से बचने के लिये अहिंसा का अवलम्बन लेना चाहिए।

षष्ठ अध्ययन : धूत

छठवें अध्ययन का नाम 'धूत' है। धूत शब्द का अर्थ है—मूल का विधूनन (निवारण)। इस अध्ययन में संयम और मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। इस अध्ययन के अन्तर्गत बताया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति बिना कर्मधुनन के नहीं हो सकती, इसलिये कर्मधुनन का ही प्रतिपादन किया जा रहा है।[1] इस अध्ययन में ५ उद्देशक हैं। निर्युक्तिकार ने उद्देशकों के विषय का निर्धारण करते हुये लिखा है कि स्वजनों का विधूनन, कर्मों का विधूनन, शरीर का विधूनन, गौरवत्रिक का विधूनन और उपसर्ग सम्मान का विधूनन इस क्रम से पाँच उद्देशकों का विषय है।[2] द्रव्य और भावधूत का वर्णन भी निर्युक्तिकार ने किया है।[3] इनके कथनानुसार देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के द्वारा किये गये उपसर्गों को सहन करके संसार-वृक्ष के बीज रूप कर्मों को दूर करना ही भावधूत कहलाता है।[4]

इस अध्ययन के उद्देशकों का विषय निम्न प्रकार है—

प्रथम उददेशक (त्याग)

जो व्यक्ति विषयों में आसक्त होते हैं, वे कर्म से छुटकारा नहीं पा सकते। विषयासक्त संसार के महान् दुःखों को भोगता है। उसे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। रोगों की संख्या १६ बतलाई गई है। कर्म-निवारण का सर्वोत्तम उपाय त्याग एवं वैराग्य है। सूत्रकार ने

---

१. उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने लोकसारभूतः संयमो मोक्षश्च प्रतिपादितः, स च निःसंगताव्यतिरेकेण कर्मधुननमन्तरेण च न भवतीत्यतस्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यत। आ० टीका, पृ० २१०।

२. पढमे नियगविहुणणा कम्माणं बितियए तइयगंमि।
उवगरणसरीराणं चउत्थए गारवतिगस्स॥ २४९। आ० नि०॥

३. उवसग्गा सम्माणयविहूआणि पञ्चमंमि उद्देसे।
दव्वधुयं वत्थाई भावधुयं कम्म अट्ठविहं॥ २५०। आ० नि०॥

४. अहियासित्तुवसग्गे दिव्वे माणुसस्ए तिरिच्छे य।
जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि॥ २५१। आ० नि०॥

जीव की उत्पत्ति से लेकर महामुनित्व की प्राप्ति तक का क्रम बतलाया है। अन्त में मोह विजय अथवा वैराग्य की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई है।

द्वितीय उद्देशक (मुनि के कर्त्तव्य)

मुनि एवं गृहस्थ श्रावक अपने-अपने धर्मों का पालन करते हैं। कभी-कभी ये लोग अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। कर्त्तव्यच्युत हो जाने पर इन्हें अनन्त काल तक नरकादि के दुःखों को भोगना पड़ता है। परन्तु जो मुनि सावधान होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं, वे ही महामुनि कहलाते हैं। विविध प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को सहन करना मुनि का परम कर्त्तव्य है।

तृतीय उद्देशक (देह-दमन)

सूत्रकार साधक के लिए देहदमन करने का उपदेश देते हुए उसे तपस्वी कहते हैं, जो वस्त्रादि के जीर्ण हो जाने पर भी चिन्तित नहीं होता है। वस्त्र-रहित होकर भी साधक परीषहों को सहन करके तप की प्राप्ति करता है। सम्यक्त्व के साथ संयम की आराधना करनी चाहिए। एतदर्थ साधु को कम से कम उपकरण स्वीकार करना चाहिये। ज्ञानसम्पन्न साधकों की भुजाएँ पतली होती हैं। माँस और खून बहुत कम होता है। साधु संसार-श्रेणी (कषाय) को नष्ट करके समदृष्टि से बर्ताव करता है।

चतुर्थ उद्देशक (विषय-त्याग)

साधना का मार्ग बड़ा विषम है। इस मार्ग में आने के बाद भी कई साधक मार्गच्युत हो जाते हैं और धर्म का मिथ्या प्रतिपादन करने लगते हैं। ऐसा साधु 'नममाणेहि अनममाणे, विरएहि अविरए, दविएहि अदविए'—अर्थात् विनयशीलों के सहवास में रहकर भी अविनयशील, संयमी साधकों के साथ रहकर भी असंयमी और उद्यत विहारियों के साथ रहकर भी शिथिल विहारी होता है। इस प्रकार पण्डित बुद्धिमान्, विषयाकांक्षा का त्यागी वीर साधक सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश के अनुसार सदा पराक्रम करे।

पंचम उद्देशक (मुक्ति की साधना)

'संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए'—बहुत से मनुष्य हिंसक या उपद्रवी होते हैं, उनके द्वारा प्रदत्त कष्टों को तथा तृणादि के स्पर्श से जन्य कष्टों को स्पर्श

होने पर वीर सहन करे। दुःखों को सहन करने का उपदेश देकर सूत्रकार कहते हैं कि श्रोताओं को उपदेश देना मुनि का परम कर्त्तव्य है। वह शान्ति, विरति, क्षमा, निर्वाण, शौच, सरलता आदि समझावे। भिक्षु मुनि सब प्राणियों को धर्म का कथन करे। उपदेश की मर्यादा इसलिए बताई गई है कि कहीं वह अपने मूल संयम की साधना में असावधान न हो जावे। मुक्ति को कौन प्राप्त करता है? सूत्रकार कहते हैं कि सावधान होकर मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थित करने वाला, रागद्वेष रहित परीषहों से चंचल न होने वाला, एक स्थान पर न रहकर विचरण करने वाला, संयम से बाह्य न विचरने वाला तथा शरीर त्याग के समय भी स्थिर रहने वाला मुक्त हो जाता है।

विषयों की आकांक्षा रखना या उनमें प्रवृत्त होना—साधु के लिये कर्त्तव्य-पथ से च्युत होना है। साधु का कर्त्तव्य है संयम और तप की आराधना करते हुए श्रावकों को भी उसका उपदेश देना। आचरणीय उपदेश ही लाभकारी होता है। साधु शरीर की तरफ नहीं, आत्मा की ओर लक्ष्य रखता है।

सप्तम अध्ययन : महापरिज्ञा

महापरिज्ञा का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। यह अध्ययन व्यच्छिन्न हो गया है। इसलिये इस अध्ययन की विषय सामग्री के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। सम्भवतः इनमें अनेक प्रकार के चमत्कारों का वर्णन किया गया था।

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

विमोक्ष के ६ निक्षेप निर्युक्तिकार ने बताए हैं। आचारांग की निर्युक्ति में नाम और स्थापना विमोक्ष को छोड़कर द्रव्य-विमोक्ष, क्षेत्र-विमोक्ष, काल-विमोक्ष और भाव-विमोक्ष का वर्णन पाया जाताहै।

विमोक्ष का अर्थ है—परित्याग। निर्युक्तिकार ने कहा है—

कम्मयदव्वेहि समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स।
सा बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो॥

जीव के साथ कर्म द्रव्य का संयोग होता है, वह बंध कहलाता है,

उस बन्ध का वियोग होना ही मोक्ष है।[1] सात तत्त्वों में मुख्य दो ही तत्त्व हैं—जीव और मोक्ष। जीव साधक है तो मोक्ष साध्य। साधक को साध्य की प्राप्ति के लिये जिन साधनों का प्रयोग करना पड़ता है उनका वर्णन आगम में पाया जाता है। इसमें आठ उद्देशक हैं, जिनमें निम्न विषय हैं।[2]

प्रथम उद्देशक (त्रियाम = तीन महाव्रत)

'जामा तिन्नि उदाहिया'—महाव्रत (याम) तीन कहे गये हैं, जिनसे आर्य पुरुष बोध पाकर जाग्रत होते हैं और पाप कर्मों से निवृत्त होते हैं। जीवन के विकास या पतन में संगति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। जीवन में धर्म की सच्ची आराधना करने के लिये शुद्ध अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह रूप त्रियाम के पालन की आवश्यकता होती है। संसार का प्रत्येक प्राणी क्रियायुक्त है, लेकिन विवेक-सहित क्रिया करने से साधक पाप से बच सकता है। अतः आवश्यक है कि साधु ज्ञानाचार आदि में असमनोज्ञ (सम्यग्दर्शनादि से रहित साधु आदि) का यथायोग्य त्याग करें।

---

१. कम्मयदव्वेहि समं संजोगो होई जो उ जीवस्स।
सा बंधो तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥२६०॥ आ० निर्युक्ति

२. असमणुन्नस्स विमुक्खो पढमे बिइए अकप्पियविमुक्खो।
पडिसेहणा य दुट्ठस्स चेव सब्भावकहणा य ॥२५२
तइयंमि अंगचिट्ठाभासिय आसंकिए य कहणा य।
सेसेसु अहीगारो उवगरणसरीरभुक्खेसु ॥२५३
उद्देसंमि चउत्थे वेहाणसगिद्धपिट्ठमरणं च।
पंचमए गेलन्नं भत्तपरिन्ना य बोद्धव्वा ॥२५४
छट्ठंमि उ एगत्तं इंगिणिमरणं च होइ बोद्धव्वं।
सत्तमए पडिमाओ पायवगमणं च नायव्वं ॥२५५
अणुपुव्विविहारीणं भत्तपरिन्ना य इंगिणीमरणं।
पायवगमणं च तहा अहिगारो होइ अट्ठमए ॥२५६
नामंठवणविमुक्खो दव्वे खित्ते य काल भावे य।
एसो उ विमुक्खस्स निक्खेवो छव्विहो होइ ॥२५७, २५८, २५९, २६०, २६१ आ० निर्युक्ति।

द्वितीय उद्देशक (अनुद्दिष्टता)

साधक अपने उद्देश्य से तैयार की हुई या लाई हुई वस्तु का उपभोग नहीं कर सकता। इसलिये यदि श्रावक सोद्देश्य वस्तु देने का प्रयत्न करे तो साधक उसे स्वीकार न करे क्योंकि ये सब क्रियाएँ न करने के लिये ही तो वह साधु बना है। यदि उस सामग्री के अस्वीकार करने पर श्रावक उससे क्रोधित हो जाये, अपशब्द कहने लगे, तो भी साधु को यह सब सहन करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक (समता के साधन)

'आरिएहिं समियाए धम्मे पवेइये' आर्य पुरुषों ने समता भाव को धर्म कहा है। समता योग की साधना के लिये तीन साधन कहे गये हैं—अहिंसा, संयम और तप। यद्यपि आहार करने से शरीर पुष्ट होता है और परीषहों के द्वारा क्षीण होता है तो भी संयम की रक्षा के लिये साधक सतत प्रयत्नशील रहता है। शीतपरीषह सहन करना चाहिये। यदि कोई श्रावक साधक के शरीर को तपाने के लिये अग्नि प्रज्वलित करे तो यह देखकर मुनि इन्कार कर दे कि मुझे अग्नि का सेवन युक्त नहीं है। इस तरह इसमें गोचर में आने वाले परीषहों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है।

चतुर्थ उद्देशक (वस्त्र)

जो भिक्षु तीन वस्त्र को धारण करने की प्रतिज्ञा लिये हुये हैं, वे न तो चौथे वस्त्र की आकांक्षा रखते हैं और न उसकी याचना ही करते हैं। वे वस्त्रों को न तो स्वयं धोते हैं और न दूसरों से धुलवाते हैं। साधक उपसर्ग और परीषह में फँसकर भी कभी अकार्य में प्रवृत्त न हो, भले ही उसकी मृत्यु हो जाये—इसी में उसका कल्याण है।

पंचम उद्देशक (स्वावलम्बन)

कोई-कोई भिक्षु दो वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा वाले होते हैं, उन्हें अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिये। वह बाह्य साधनों के घटाने का प्रयत्न करता रहे। निर्बल हो जाने के कारण भिक्षाचर्या में असमर्थ साधु को यदि कोई गृहस्थ भोजन, अन्न या जल लाकर दे तो वह उसे स्वीकार न करे। क्योंकि साधक का जीवन स्वावलम्बी होना चाहिये।

षष्ठ उद्देशक (सहनशीलता)

जो साधक एक वस्त्र और एक पात्र रखता है, वह और अधिक वस्त्र रखने या पाने की अभिलाषा नहीं करता। भोजन में स्वाद की लालसा नहीं रखता। साधक जब यह समझने लगे कि अब मैं इस शरीर को धारण करने में अशक्त हो रहा हूँ तब उसे क्रमपूर्वक आहार कम कर देना चाहिये। उसे सहनशील बनना चाहिये।

सप्तम उद्देशक (निर्वस्त्रता की ओर प्रवृत्ति = अचेल भिक्षु)

साधक शीत, उष्ण आदि परीषह जीत सकता है परन्तु लज्जा परीषह पर विजय पाना कठिन है, इसीलिये वह कटिवस्त्र धारण करता है। परन्तु धीरे-धीरे उसे निर्वस्त्र होने का उपदेश दिया गया है। एक साधु दूसरे की वैयावृत्य करे। जब मुनि को मालूम हो जाये कि मैं इस शरीर को यथाक्रम धारण करने में असमर्थ हो रहा हूँ, तब उसे अनुक्रम से आहार को कम कर देना चाहिये और आहार का त्याग करके कषायों को कृश करना चाहिये।

अष्टम उद्देशक (समाधिमरण)

इस उद्देशक में यथाक्रम विहारी साधकों के लिये जीवन और मृत्यु के प्रति निरपेक्ष भाव जागृत करने वाले समाधिमरण का निरूपण किया गया है—'जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नो वि पत्थए। दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा'॥ समाधिमरण के ३ भेद किये हैं—भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण और पादपोपगमन।

इस तरह अध्ययन में सचेलक से अचेलक की ओर बढ़ने के लिये साधु को उपदेश दिया गया है। शक्ति के न रहने पर साधु को सीमित वस्त्र रखने की छूट है, किन्तु उसे अतिरिक्त वस्त्र की आकांक्षा नहीं रखना चाहिये। धीरे-धीरे लज्जा-परीषह, उष्ण परीषह और शीत परीषह पर विजय प्राप्त करना चाहिए। साधु का जीवन तभी सफल कहा जाता है, जब उसका पंडितमरण (समाधिमरण) हो।

नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

जो समीप में रखा जाये, वह उपधान है।[1] उपधान के चार निक्षेप

१. उप-समीप्येन धीयते-व्यवस्थाप्यते इत्युपधानं। आ० टीका, पृष्ठ, २७०।

है—नामोपधान, स्थापनोपधान, द्रव्योपधान और भावोपधान।[1] प्रकृत में द्रव्योपधान और भावोपधान विचारणीय है। सिरहाना या तकिया द्रव्य उपधान है। चारित्र के लिए अवलम्बनभूत ज्ञान, दर्शन और तपश्चरण भाव उपधान कहे गए हैं।[2] इस अध्ययन में भाव उपधान का वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार ने भाव उपधान से अष्ट प्रकार के कर्मों से आत्मा की शुद्धि बतलाई है।[3] इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं। इन उद्देशकों के विषयों का स्पष्टीकरण करते हुये निर्युक्तिकार ने लिखा है कि चर्या, शय्या, परीषह और आतंकित चिकित्सा रूप से तपश्चरण का वर्णन इनमें पाया जाता है[4]। टीकाकार ने इनको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि महावीर स्वामी ने इस तपश्चरण को किस प्रकार किया।[5] इस अध्ययन में निम्न चार उद्देशक हैं—

प्रथम उद्देशक (वीर का वैराग्य)

भगवान् महावीर ने हेमन्त ऋतु में दीक्षा ली। उस समय उनके शरीर पर देवदूष्य वस्त्र पड़ा हुआ था जो एक वर्ष और कुछ अधिक माह तक उनके शरीर पर रहा। उन्हें कई प्रकार के परीषह सहन करने पड़े। उन्होंने हर्ष और विषाद में समताभाव रखा। षट्काय के जीवों की रक्षा करना उन्होंने अपना पहला कर्तव्य समझा। कर्म

---

१. नामंठवणवहाणं दव्वे भावे य होइ नायव्वं।
एमेव य सुत्तस्सवि निक्खेवो चउव्विहो होइ॥ २८०। आ० निर्युक्ति॥

२. दव्वुवहाणं सयणे भावुवहाणं तवो चरित्तस्स।
तम्हा उ नाणदसणतवचरणेहिं इहाहिगयं। २८१। आ० निर्युक्ति॥
द्रव्यभूतमुपधानं द्रव्योपधानं, तत्पुन: शय्यादौ सुखशयनार्थं शिरोऽवष्टम्भनवस्तु, 'भावोपधान' मिति भावस्योपधानं, तत्पुनर्ज्ञानदर्शनतपश्चरणरिहाधिकृतम्। आ० टीका पृष्ठ २७०।

३. जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्ममट्ठविहं। २८२। आ० निर्युक्ति॥

४. चरिया सिज्जा य परीसहा य आयंकिया (ए) चिगिच्छा य।
तव चरणेणऽहिगारो चउसुद्देसेसु नायव्वो। २७९। आ० निर्युक्ति॥

५. आ० टीका, पृ० २६९

के रहस्य को उन्होंने अच्छी तरह से समझकर कर्म के कारणभूत पापों का त्याग किया। उद्दिष्ट भोजन करना छोड़ दिया।

द्वितीय उद्देशक (विहार)

भिन्न-भिन्न स्थानों का विहार भगवान् महावीर ने किया। वे कभी खण्डहरों में, कभी श्मशान में और कभी वृक्ष के नीचे ठहर जाते थे। १२ वर्ष तक उन्होंने तपस्या की। वे रात्रि में अधिक नींद नहीं लेते थे। उपसर्ग सहन करते थे। प्रायः मौन रहकर संयम धारण करते थे।

तृतीय उद्देशक (उपसर्ग)

शीत, उष्ण और दंसमसक आदि परीषह समभाव से सहन करते थे। वज्रभूमि के निवासी रूखा सूखा भोजन करने वाले होते थे। कुत्तों से बचने के लिये कई श्रमण लाठी लेकर विहार करते थे परन्तु फिर भी वे उनके द्वारा सताए जाते थे। भगवान् महावीर ने ऐसे सब प्रकार के उपसर्ग सहन किए।

चतुर्थ उद्देशक (वीर की तपस्या)

वे हमेशा अल्प भोजन ही करते थे। कभी-कभी निराहारी रहते थे। औषधि सेवन नहीं करते थे। शरीर पर तेल मर्दन नहीं करते थे। तपस्या के द्वारा अपने शरीर को कृश करते थे। उन्होंने आठ माह तक चावल, बेर-चूर्ण और कुल्माष का सेवन किया। जैसा भी रूखा-सूखा भोजन मिलता था, समभाव से उसे स्वीकार करते थे।

इस प्रकार आचरांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम तीन अध्ययनों में ज्ञानाचार का प्रतिपादन किया गया है। शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में भावशस्त्र अर्थात् दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय की परिज्ञा (सूक्ष्म जानकारी) दी गई है। लोक-विजय में जीवात्मा किस प्रकार कर्मबद्ध होती है और किस प्रकार कर्ममुक्त होती है, यह बतलाया गया है। शीतोष्ण अध्ययन में समभाव साधने की कला का दिग्दर्शन कराया गया है। दर्शन (सम्यक्त्व) की आठ अंग सहित शुद्ध आराधना करना दर्शनाचार कहलाता है। चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसमें सम्यक्त्व का व्यावहारिक एवं प्रायोग्यरूप का वर्णन मिलता है। पांचवे अध्ययन लोकसार में संसार में उत्कृष्ट तत्त्व-मोक्ष के प्रधान

साधनचारित्र का वर्णन है और धूतनामक छठवें अध्ययन में कर्मों की निर्जरा में प्रधान कारण संयम का वर्णन है। इस प्रकार दोनों अध्ययनों में चारित्राचार का प्रतिपादन किया गया है। आभ्यन्तर और बाह्य १२ प्रकार का तप करना तपाचार है और अपनी शक्ति का गोपन न करके धर्म कार्यों में यथाशक्ति प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। आठवें और नवें अध्ययन में तपाचार और वीर्याचार का वर्णन आता है। इस प्रकार इन ९ अध्ययनों में ज्ञानाचार आदि पांच आचारों का विशद विवरण पाया जाता है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

प्रथम श्रुतस्कन्ध के बाद द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विषयों का स्पष्टीकरण देते हुये टीकाकार का कथन है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में समस्त विवक्षित अर्थ का समावेश नहीं हो पाया है और जो कहा गया है वह भी संक्षेप में है।

इसलिये द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रथम श्रुतस्कन्ध में अनुक्त विषयों एवं संक्षिप्त बातों को विस्तार दिया गया है। निर्युक्तिकार ने अधिक स्पष्टता एवं निर्देश के साथ लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के किन-किन अंशों का विस्तार द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पाया जाता है।

इस श्रुतस्कन्ध में चार चूलिकाएँ हैं। प्रथम चूलिका में ७ अध्ययन, द्वितीय चूलिका में ७ अध्ययन, तृतीय चूलिका में १ अध्ययन और चतुर्थ चूलिका में भी १ अध्ययन है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

प्रथम चूलिका

प्रथम अध्ययन : पिण्डैषणा

प्रथम अध्ययन में पिण्ड ग्रहण-विधि को विस्तार पूर्वक समझाया गया है ताकि साधु कोई गलती न कर सके। टीकाकार का कहना है कि धर्म का आधार शरीर है और उस शरीर के पालन के लिये आहार-पान आवश्यक है। इसलिए सर्वप्रथम आहार शुद्धि का वर्णन आता है। इसमें ११ उद्देशक हैं, जिनमें क्रमशः निम्न प्रकार विषय का प्रतिपादन किया गया है—

प्रथम उद्देशक (शुद्ध आहार)

जो भोजन अथवा जल जीव या अंकुर (बीज) से युक्त हो, वह त्याज्य है। अशुद्ध आहार करने वाले भिक्षुओं या गृहस्थों के साथ साधु को भिक्षा के लिये जाना उचित नहीं है। शंकित अथवा पापयुक्त क्रियाओं से छीना हुआ भोजन उपादेय नहीं है। बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि आदि के निमित्त तैयार किया हुआ भोजन स्वीकार करते हैं परन्तु जैन भिक्षु या भिक्षुणी को ऐसा भोजनादि स्वीकार नहीं करना चाहिये।

द्वितीय उद्देशक (अनाहार)

अष्टमी के दिन ,एक, दो, तीन, चार, पाँच अथवा छठे महीने के प्रारम्भ के दिन, ऋतु प्रारम्भ के दिन भिक्षु को आहार नहीं लेना चाहिये। जहाँ उत्सव हो रहा हो, उसके अर्ध योजन के घेरे में भोजन लेने नहीं जाना चाहिये। संखड़ी दोषों का इसमें विवेचन किया गया है।

तृतीय उद्देशक (मादक पदार्थों की असेव्यता)

जहाँ भोजसहित उत्सव होता है, वहाँ जाकर भोजन लेने से कई प्रकार की हानियाँ होती हैं। गृहस्थ लोग नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं। शायद भिक्षु को वह वस्तु दे दी जाय। इसके कारण भिक्षु संभोग आदि क्रियाओं में भी संलग्न हो सकता है। भिक्षु क्षत्रिय राजाओं, राजदूत तथा राजा के रिश्तेदारों के यहाँ भी भोजन न ले।

चतुर्थ उद्देशक (सुस्वादु भोजन की लालसा का त्याग)

गायदोहन या भोजन तैयार होते समय भिक्षु आहार लेने के लिये गृहप्रवेश न करे। लालसावश कुछ साधु ऐसा कहते हैं कि यह गाँव छोटा है इसलिए दूसरे गाँव में भिक्षा के लिये जाओ। भिक्षु को अपने रिश्तेदार के यहाँ इसलिये नहीं जाना चाहिये कि वहाँ उत्तम खाद्य पदार्थ मिलेंगे।

पंचम उद्देशक (सामूहिक भोजन)

जब श्रमण साधु को यह ज्ञात हो जाय कि अमुक घर में अन्य साधु भिक्षा के लिये प्रवेश कर चुका है तो उसे उस घर में प्रवेश नहीं करना चाहिये। कभी-कभी सामूहिक रूप से वितरण के लिये भोजन

प्राप्त होता है। उस समय श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह निर्लोभता एवं न्याय से उसका विभाजन भिक्षुओं में कर दे। स्वयं न अधिक ले और न अच्छा ले।

षष्ठ उद्देशक (अग्राह्य आहार)

भिक्षु को किसी घर में झुककर नहीं देखना चाहिये। स्नानागार में दृष्टि नहीं डालना चाहिये। अँगुली के संकेत से भिक्षा प्राप्त न करे। भिक्षा की न प्रशंसा करे और न निन्दा। यदि दाता अपने हाथ उष्ण या ठंडे पानी से धोकर भिक्षा दे तो उससे कहे कि बिना हाथ धोये ही भिक्षा दो। साधु को अग्नि पर रखे हुए आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

सप्तम उद्देशक (अनुपादेय भोजन)

भिक्षु को खम्भे, छत, छप्पर या कबूतरे पर रखे हुये भोजन को स्वीकार नहीं करना चाहिये। संभव है उस भोजन को उठाकर देने वाले को चोट आ जाय। मिट्टी से लिप्त बर्तन में रखे हुये भोजन को स्वीकार न करे।

अष्टम उद्देशक (अस्वीकार्य आहार)

नस, छाल या बीज से युक्त आम, कैथ, नीबू, अंगूर, खजूर, अनार, नारियल, उन्नाव, आमला, इमली का पानी या रस नहीं लेना चाहिये। भोजन पान या अन्य सुगंधित पदार्थों की सुगंधि पाकर तृष्णा पूर्वक उसे सूंघे नहीं। बिना बने हुये फलों को भी स्वीकार नहीं करना चाहिये। अधपका चावल भी उपादेय नहीं है।

नवम उद्देशक (दूसरे का भोजन)

यदि कोई यह कहे कि अपने लिए तैयार किये हुये भोजन को हमें साधु को दे देना चाहिये, हम फिर तैयार कर लेंगे। यह सुनकर साधु उस भोजन को स्वीकार न करे। प्राप्त भोजन में से सुगंधित पदार्थ को ग्रहण करना एवं दुर्गंधित पदार्थ को छोड़ना साधु के लिये हेय बताया गया है। जो भोजन दूसरे के लिये रख दिया गया हो, उसे भी साधु स्वीकार न करे।

दशम उद्देशक (हेय पदार्थ)

यदि साधु ने कई साधुओं का भोजन इकट्ठा किया हो तो बिना उन सबकी सम्मति लिये अन्य लोगों में उसे वितरित नहीं करना

चाहिये। सुस्वादु भोजन स्वयं कर ले और शेष दूसरों को बांटे, यह भी साधु के लिये उचित नहीं है। जिस पदार्थ का थोड़ा भाग खाया जाता है और बहुत सा भाग फेंका जाता है, ऐसा पदार्थ भी साधु को स्वीकार नहीं करना चाहिये। हड्डीयुक्त मांस एवं मछली को भी साधु स्वीकार न करे।

एकादश उद्देशक (सात नियम)

साधु का कर्त्तव्य है कि स्वधर्मी बीमार साधु के लिये भोजन आदि दे। भिक्षा में प्राप्त भोजन वह रुग्ण साधु के पास लाकर रखे और उसे उपादेय भोजन बतावे। उसके स्वीकार कर लेने या अस्वीकार कर देने पर ही भोजन ग्रहण करे। भिक्षुओं के लिये पिंडैषणा और पानैषणा के ७-७ नियम निश्चित किये गये हैं, जो एक समान हैं—

१. अचित्त वस्तु से अलिप्त (बिना भरे हुये) हाथ और पात्र से दिया हुआ निर्जीव आहार ले।
२. अचित्त वस्तु से लिप्त (भरे हुए) हाथ और पात्र से दिया हुआ निर्जीव आहार ले।
३. अलिप्त हाथ और भरे हुए पात्र से अथवा भरे हुए हाथ और अलिप्त पात्र से निर्जीव भोजन ले।
४. निर्जीव पोहे, धानी आदि जिसमें फेंकने का कम और खाने का अधिक हो, उसे स्वीकार करे।
५. जिस निर्जीव भोजन को गृहस्थ ने स्वयं खाने के लिए परोसा हो, उसे ले।
६. गृहस्थ ने अपने या दूसरों के लिए निर्जीव भोजन करछी में निकाला हो, उसे ले।
७. जो भोजन फेंकने के योग्य हो और कोई न लेना चाहे, उस निर्जीव रुक्ष भोजन को ले।

द्वितीय अध्ययन : शय्या

द्वितीय अध्ययन के उद्देशकों के विषय में निर्युक्तिकार ने लिखा है कि इसके तीन उद्देशकों में क्रम से वसति के उद्गमदोष, शय्याविवेक

तथा उद्गम दोषों के परिहार का कथन किया गया है।

प्रथम उद्देशक (वसति के उद्गम दोष)

इस उद्देशक में औद्देशिकादि उद्गम दोषों से बचने के लिए साधु किस प्रकार के उपाश्रय में निवास करे तथा किस प्रकार के उपाश्रय में निवास नहीं करे इसकी चर्चा की गयी है, साथ ही गृहस्थ-संसक्त स्थान में साधु का निवास निषिद्ध बताकर वहाँ उत्पन्न होने वाले खतरों से साधु को सावधान किया गया है।

द्वितीय उद्देशक (शय्या-विवेक)

गृहस्थ-संसक्त उपाश्रय के दोषों के विविध पक्षों को स्पष्ट करते हुए नौ प्रकार की शय्याओं—कालातिक्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, वर्ज्या, महावर्ज्या, सावद्या, महासावद्या, अल्पक्रिया का विवेचन तथा उनके गुण-दोषों का कथन किया गया है।

तृतीय उद्देशक (उद्गमादि दोष-परिहार)

प्रस्तुत उद्देशक में गृहस्थ-संसक्त अर्थात् जिसमें गृहस्थ रहते हों उपाश्रय में रहने से साधु के साथ किस प्रकार की छलनाएँ हो सकती हैं इसका उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि साधु को उन छलनाओं से सावधान रहना चाहिए, साथ ही उसे सम-विषम वसति में समभाव से रहना चाहिए।

तृतीय अध्ययन : ईर्येषणा

कल्प-नियमानुसार यतना एवं विवेकपूर्वक चर्या (गमनादि) करना ईर्या है। साधु का गमन किस क्षेत्र में, किस समय में, कैसे और किस भाव से होना चाहिए—इस अध्ययन के तीन उद्देशकों में इसका सविस्तार वर्णन है।

प्रथम उद्देशक (वर्षावास-विहारचर्या)

साधु को वर्षावास में यथावसर प्राप्त वसति में ही संयतपूर्वक रहकर वर्षावास व्यतीत करना चाहिए तथा वर्षावास समाप्ति के पश्चात् अविलम्ब ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में होने वाले विघ्नों से बचना चाहिए। मार्ग में पड़ने वाले नदी-नालों को पार

करने के लिए उसे चार बातों का विवेक करते हुए ही नौकारोहण करना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक (विविध यातनाएँ)

नौकारोहण में आने वाले संकटों का प्रतीकार न करते हुए साधु समाधिपूर्वक जल में संस्तरण करे। विहार करता हुआ साधु गृहस्थों के साथ अधिक वार्तालाप न करे। मार्ग में पड़ने वाले जंघाप्रमाण जल को छः विधियों से पार करे, साथ ही विहार में आने वाले विषम मार्ग को छोड़कर यदि अन्य मार्ग से नहीं जाया जा सकता है तो साधु को उन्हीं विषम मार्गों पर सावधानी पूर्वक चलना चाहिए।

तृतीय उद्देशक (विहार-यात्रा सम्बन्धी नियम)

साधु का ध्यान अपने मार्ग की ओर ही होना चाहिए। वह यात्रा में सह-पथिकों के साथ किसी भी प्रकार का वार्तालाप न करे। किसी के कुछ पूछने पर 'मैं नहीं जानता' ऐसा ही कहे। मार्ग में मिलने वाले हिंसक पशु, चोर-लुटेरों आदि के प्रति अपने मन में कुविचार न लाये। निर्भय तथा आत्मभाव में लीन रहते हुए विचरण करे।

चतुर्थ अध्ययन : भाषा-विवेक

इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य साधु वर्ग को वचन-शुद्धि का उपाय बताना है। इसके दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में सत्य भाषा, असत्य भाषा आदि की चर्चा है और दूसरे उद्देशक में साधु को किस प्रकार की भाषा किसके साथ कैसे बोलना चाहिए—आदि बातों का निरूपण है।

प्रथम उद्देशक (वचनविभक्ति तथा भाषा के विधि-निषेध)

सोलह प्रकार की वचन-विभक्ति बताकर सत्य, मृषा, सत्य-मृषा और असत्य-अमृषा ऐसी चतुर्विध भाषा के स्वरूप का विवेचन है तथा यह बताया गया है कि मुनि को इसमें से कौन सी भाषा बोलना चाहिए और कौन सी भाषा नहीं बोलना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक (भाषा-विवेक)

साधु को सम्यक् वाणी ही बोलनी चाहिए तथा उसे ऐसी भाषा

नहीं बोलनी चाहिए जिससे दूसरे व्यक्ति हिंसादि पाप में प्रवृत्त हों। साधु को तटस्थ भावपूर्वक जो जैसा है वैसा ही कहना चाहिए, उस समय मन एवं वाणी में राग-द्वेष नहीं आने देना चाहिए।

पञ्चम अध्ययन : वस्त्रेषणा

साधु को वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी नियमों का ध्यान रखना अति आवश्यक है। विषय के स्पष्टीकरणार्थ इस अध्ययन के दो उद्देशकों में साधु के वस्त्र किस प्रकार के, कितने प्रमाण में, कितने मूल्य तक के तथा किस विधि से निष्पन्न वस्त्र ग्रहण किये जायें, इसकी त्रिविध एषणा बतायी गयी है।

प्रथम उद्देशक (वस्त्र-ग्रहण विधि)

साधु छः प्रकार से निर्मित वस्त्र ग्रहण कर सकता है, वस्त्र-ग्रहण करने के लिए साधु आधे योजन से आगे न जाये। औद्देशिक आदि दोषों से युक्त बहुमूल्य तथा चर्मनिष्पन्न वस्त्र ग्रहण करना साधु के लिए निषिद्ध है। साधु वस्त्रेषणा-सम्बन्धी चार प्रतिमाओं में से जिस प्रतिमा को करता है, उस प्रतिमा के अनुसार ही वस्त्र मिलने पर वह ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं। वस्त्र-ग्रहण के पूर्व वस्त्र का प्रतिलेखन अनिवार्य है। साधु को वस्त्र-प्रक्षालन का निषेध है। वर्षा या पसीने आदि से भीगे हुए वस्त्र को अचित्त, निर्दोष स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन (प्रमार्जन) कर उस पर ही सुखाना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक (वस्त्र-धारण विधि)

वस्त्रों को विशेष उज्ज्वल करना तथा श्वेत वस्त्रों को रंगना साधु के लिए निषिद्ध है। विहारादि में समस्त वस्त्रों को साथ लेकर जाने का विधान है। प्रातिहारिक वस्त्र के उपहत (खराब या विनष्ट) हो जाने पर वह वस्त्र उपहत करने वाले साधु को ही दे दे, उसका स्वयं उपभोग न करे। साधु अपने वस्त्रों का उपयोग सभी स्थितियों में ममत्व, राग-द्वेष, लोभ एवं मोह से रहित होकर करे।

षष्ठ अध्ययन : पात्रेषणा

जब तक साधु अभिग्रहपूर्वक दृढ़मनोबल के साथ 'करपात्र' की

भूमिका पर नहीं पहुँच जाता, तब तक उसके लिए निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करने हेतु पात्र की आवश्यकता होती है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु अपने पास किस प्रकार के तथा कितनी संख्या में पात्र रखे। पात्र भी वे ही ग्राह्य हैं जो उद्गमादि दोषों से रहित हों। इस षष्ठ अध्ययन के प्रथम उद्देशक में पात्र-ग्रहण सम्बन्धी विधि-निषेधों का उल्लेख है और द्वितीय उद्देशक में पात्र रखने सम्बन्धी विधि-निषेधों की चर्चा है। विधि-निषेध भी पूर्वोक्त वस्त्रेषणा अध्ययन में बताए हुए विवेक के अनुसार ही बताया गया है।

पात्र-धारण का विधान एवं निषेध पूर्वोक्त वस्त्रेषणा में बताये हुए विवेक के अनुसार ही बताया गया है।

सप्तम अध्ययन : अवग्रहेषणा

साधु को अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं एवं स्थान (वसति एवं स्थण्डिल भूमि) किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए—इस बात का उल्लेख इस अध्ययन के दो उद्देशकों में किया गया है।

प्रथम उद्देशक (अवग्रह की अनिवार्यता तथा प्रकार)

साधु को स्थान, आहार-पानी, औषध, वस्त्र-पात्र, सूचिका, कैंची, नहरणी आदि की आवश्यकता हो तो उसे सर्वप्रथम उस वस्तु के स्वामी से अनुज्ञा लेनी चाहिए। इस उद्देशक में अवग्रह-स्थान याचना सम्बन्धी विधि-निषेध की विस्तृत चर्चा है।

द्वितीय उद्देशक : (स्थानादि की याचना-विधि)

साधु का कर्तव्य है कि वह ठहरने के लिए जिस स्थान का चयन करे, उसमें उसके स्वामी की आज्ञा लेकर ही ठहरे। जिनसे अनुमति प्राप्त करना चाहिये वे पांच हैं— १. देवेन्द्र २. राजा ३. गाथापति ४. सागारिक और ५. साधर्मिक। यथास्थिति उसे इनकी अनुमति से ही कोई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये।

द्वितीय चूलिका

अष्टम अध्ययन : स्थान

साधु-जीवन में मुनि को शयन, प्रतिलेखन, प्रवचन, कायोत्सर्ग

आदि क्रियाएँ करनी होती हैं। अतः साधु को कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार, उच्चारप्रस्रवणादि के लिए किस प्रकार के कितने स्थान को कब तक तथा किस प्रकार से ग्रहण करना चाहिये—इसका विवेचन इस अध्ययन में है। इसके साथ ही इसमें कायोत्सर्ग के समय एवं स्थान से सम्बन्धित चार प्रतिमाओं का भी उल्लेख है, जो कायोत्सर्ग के समय साधु के लिए अत्यावश्यक हैं।

नवम अध्ययन : निषीधिका

निषीधिका भूमि (क्रियाओं) से तात्पर्य स्वाध्याय भूमि से है, जहाँ मुनि सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर स्वाध्याय कर सके। ऐसी भूमि सावद्य व्यापारों, कलह-कोलाहल, अशान्तिकारक बातों, निषिद्ध क्रियाओं से सर्वथा रहित होनी चाहिए तथा जहाँ चिन्ता, शोक मोहोत्पादक रागरंग का सर्वथा अभाव हो। ऐसी प्रच्छन्न भूमि में ही स्वाध्याय सम्भव है। इस प्रकार इस अध्ययन में स्वाध्याय भूमि के चयन के विषय में विवेचन किया गया है कि वह निषीधिका (स्वाध्याय) भूमि कैसी हो, वहाँ कैसे बैठा जाये, कहाँ बैठा जाये, कौन सी क्रियाएँ वहाँ की जायें और कौन सी न की जायें।

दशम अध्ययन : उच्चार-प्रस्रवण

उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र विसर्जन) अपरिहार्य शारीरिक क्रियाएँ हैं। इसलिए मलमूत्र का विसर्जन एवं प्रतिष्ठापन कहाँ, कैसे और किस विधि से किया जाये—इसका सम्यक् विवेक साधु को होना आवश्यक है, नहीं तो जनस्वास्थ्य की हानि, अन्य प्राणियों को पीड़ा तथा जीवहिंसा होगी। इसी के उद्देश्य से प्रस्तुत अध्ययन में उच्चार-प्रस्रवण के विसर्जन एवं प्रतिस्थापना तथा उसके विधि-निषेधों को बताया गया है।

एकादश अध्ययन : शब्द

श्रवणेन्द्रिय का लाभ शब्द-श्रवण के लिए है। साधु को चाहिए कि वह प्रिय या अप्रिय शब्द को केवल सुन ले, उसे मन के साथ न जोड़े। वह समभाव में रहे। साधु को कर्णप्रिय शब्द सुनने की इच्छा से गमन करने, प्रेरणा देने या उत्कण्ठा व्यक्त करने का निषेध किया गया है तथा किसी भी प्रिय एवं सुखकर शब्द के प्रति मन में

इच्छा, लालसा, आसक्ति, राग, गृद्धि, मोह तथा मूर्च्छा न लाने का निर्देश दिया गया है साथ ही साधु को शब्द-श्रवण के साथ राग-द्वेषादि से दूर रहकर समत्व एवं माध्यस्थ्य में लीन रहने के लिए प्रेरित किया गया है।

द्वादश अध्ययन : रूप

दृश्यमान प्रिय-अप्रिय, इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप देख कर साधु को उसमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, अपितु समभाव रखना चाहिए। इस अध्ययन में दृश्यमान पदार्थों के रूपों को बता कर उनमें से किसी के प्रति मन में आसक्ति, राग-द्वेष, मोह आदि न रखने का साधु को निर्देश दिया गया है।

त्रयोदश अध्ययन : परक्रिया

दूसरे के द्वारा साधु के शरीर—पैर, आंख, कान आदि अवयवों पर की जाने वाली परिकर्म-क्रिया या परिचर्या 'परक्रिया' है। ऐसी विविध परक्रियाएं गृहस्थ आदि से कराना साधु के लिए मन-वचन-काय से सर्वथा निषिद्ध है। इस अध्ययन में परक्रिया की परिभाषा, परिणाम पाद-काय-व्रण-गंडादि परिकर्म रूप परक्रिया-निषेध, मलनिष्कासन, केश-रोमकर्तन, जूं-लीख-निष्कासन, अंक-पर्यंक-पादचाप-व्रणादि परिकर्म, आभूषण-परिधान, चिकित्सा आदि के रूप में परिचर्या का निषेध किया गया है तथा साधु को कृतकर्म के फलस्वरूप प्राप्त वेदना को समभाव पूर्वक सहन करने का उपदेश भी दिया गया है।

चतुर्दश अध्ययन : अन्योन्यक्रिया

साधु-साध्वी की परस्पर एक दूसरे से (पूर्व अध्ययन में वर्णित पाद-चाप-व्रणादि परिकर्म सम्बन्धी परक्रिया) परिचर्या लेना अन्योन्यक्रिया है। चूंकि अन्योन्यक्रिया की वृत्ति साधु में जितनी अधिक होगी, उतना ही वह पराश्रयी, परमुखापेक्षी बनता जायेगा। इसी उद्देश्य से साधु के लिए अन्योन्यक्रिया का भी निषेध किया गया है।

तृतीय चूलिका

पंचदश अध्ययन : भावना

प्रथम श्रुतस्कन्ध में बताये गये आचार का आचरण किसने

किया ? इस प्रश्न का उत्तर तृतीय चूलिका में है। इसमें भगवान् महावीर का पवित्र जीवन अंकित है। इसमें पांच महाव्रतों तथा उनकी पाँच-पाँच भावनाओं का स्वरूप भी बताया गया है।

चतुर्थ चूलिका

षोडश अध्ययन : विमुक्ति

इसमें विविध रूपकों एवं युक्तियों के द्वारा यह बताया गया है कि राग-द्वेष, मोह, ममत्व एवं कषाय आदि का सम्पूर्ण क्षय ही मुक्ति को प्राप्त कराने में समर्थ है। इस अध्ययन में साधु को बताया गया है कि वीतराग होने पर ही वह सदैव के लिए जन्म-मरणादि रहित मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

●

3 | आचारांग की भाषा-शैली

शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता

जैनाचार्यों ने शब्द की अपेक्षा अर्थ को महत्त्व दिया है। इसके मूल की खोज की जाये तो पता लगता है कि जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर केवल अर्थ का उपदेश करते हैं, शब्द तो गणधर के होते हैं अर्थात् मूलभूत अर्थ है, न कि शब्द।

परिणामतः जैनों ने अपने आगमों में शब्दों को यथावत् रखने हेतु उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि वैदिक परम्परा में वेदों के शब्दों की यथास्थिति पर ध्यान रखा गया। जैनों ने भावों को पकड़ने का प्रयास किया, शब्दों को पकड़ने का नहीं। अतः जैन आगमों के शब्द-स्वरूप पर यथास्थिति परिवर्तन हुआ है।

अर्थ-गाम्भीर्य

आचारांग के सूत्र संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं अर्थात् उनका अर्थ-शरीर जितना विराट् है, शब्द-शरीर उतना ही लघुतम है। कभी-कभी सूत्रों के अर्थ करने में विद्वानों को कठिनाई का भी अनुभव होता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक के प्रथम श्लोक का अर्थ करते समय आचार्य शीलांक का कथन है कि प्राचीन टीकाकारों ने इस श्लोक का स्पष्टीकरण नहीं दिया है। इसका कारण उनको ज्ञात नहीं[1]। प्राचीन टीकाकार का भी उन्होंने स्पष्ट नाम-निर्देश नहीं किया है, परन्तु याकोबी की टिप्पणी के अनुसार वह चूर्णिकार होना चाहिए।[2] इसके सिवाय किये हुए अन्य

१. अयं च श्लोकश्चिरन्तनटीकाकारैरेव न व्याख्यातः, तत्र किं सुगमत्वादुताभावात्, सूत्रपुस्तकेषु तु दृश्यते, तदभिप्रायं च वयं न विद्म इति। टीका पृ० २७८।

२. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, २२, पृष्ठ ८२।

कई सन्दर्भों में अर्थों की बहुलता से भी यह ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अर्थ की गंभीरता से परिपूर्ण है। इसे ही हम सूत्र शैली के नाम से कह सकते हैं, जिसकी विशेषता है—थोड़े शब्दों में अधिक अर्थबोध कराने का सामर्थ्य। वह भी आचारांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध में देखी जाती है। इसमें उपनिषदों जैसा अर्थ-गाम्भीर्य भरा पड़ा है। यही कारण है कि इस सूत्र पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि व्याख्यात्मक ग्रन्थ लिखे गये।

गद्य और पद्य का मिश्रण

दूसरी विशेषता है—गद्य और पद्य के मिश्रण की। सम्पूर्ण सूत्र में लगभग १२५ गाथायें हैं। इसका गद्य भी प्रवाहपूर्ण एवं चमत्कारी है। उसमें कहीं-कहीं काव्य से भी अधिक सौंदर्य टपकता है[1] तथा पढ़ने में अधिक माधुर्य से युक्त प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि मौखिक पाठ-परम्परा में रहने वाला यह ग्रन्थ अवश्य ही गेय रहा होगा। इसकी शब्दावलि आकर्षक एवं मधुर है। यही कारण है कि इसकी वाक्य-रचना अनुपम है।

पद्य की अपेक्षा गद्य में हमेशा भाषा भाव का अनुगमन करती है लेकिन उन भावों की अनुगामिनी भाषा में अलौकिकता के दर्शन होना एक विशेष शैली को प्रदर्शित करता है। जैसे—चइत्ता पुव्व-संजोगं, हिच्चा, उवसमं, वसित्ता बम्भचेरंसि, जाणित्तु धम्मं।[2] इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह ग्रंथ भरपूर है। अतः हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ गद्य-पद्य का मिश्रण होते हुए भी प्रवाहमय भाषा से युक्त है।

शैली : समीक्षा

इस ग्रन्थ की शैली के सम्बन्ध में प्रो० याकोबी ने दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुधा पूर्णवाक्य के स्थान में वाक्यांश ही प्राप्त होते हैं। इससे हमें ब्राह्मण ग्रन्थों का स्मरण हो आता है परन्तु ब्राह्मण सूत्रों में शृंखलाबद्ध विचार मिलते

१. आचारांग सूत्र, १. ६. ५।
२. वही, १. ६. २।

हैं, जबकि आचारांग सूत्र में एक वाक्यांश दूसरे वाक्य से स्वतंत्र दिखाई देता है। जो श्लोक या त्रिष्टुभ के छंद इस ग्रंथ में मिलते हैं, वे भी अनेक स्थानों पर अपूर्ण ही हैं, जिन्हें पूरा नहीं किया जा सकता। प्रो० याकोबी के मतानुसार सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र में ऐसे ही छन्दों का प्रयोग किया गया है। आगे चलकर प्रो० याकोबी ने यह भी माना है कि इन वाक्यांशों में आगे प्रयुक्त शब्दों ने पिछले वाक्यांश ही स्पष्ट किए हैं। उदाहरणस्वरूप एक वाक्य रखा है—अहो य राओ जय माणे धीरे सया आगय-पन्नाणे।[1] यहाँ 'अहो य राओ' का अर्थ 'सयाजयमाणे' से तथा 'धीरे' का अर्थ 'आगयपन्नाणे' से स्पष्ट होता है। इसी प्रकार 'पमत्ते बहिया पास' का स्पष्टीकरण 'अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि' कर रहा है।[2] सूक्ष्मावलोकन करने पर याकोबी का यह कथन पुष्ट नहीं होता है कि आचारांग सूत्र किन्हीं उपदेशों या अन्य ग्रंथों से लिए हुए वाक्यों का टीका ग्रंथ है। कभी-कभी यह कथन शैली ही होती है कि एक बात को दो ढंग से कहा जाये। अतः प्रो० याकोबी के कथन की समीक्षा करना अत्यावश्यक है।

यदि हम यह बात मान लें कि पद्यांश का स्पष्टीकरण ही इस ग्रंथ में मिलता है तो ऐसे कई स्थल हैं जहाँ उद्देशकों का अन्त पद्यांशों से ही किया गया है, जिनके आगे कोई स्पष्टीकरण नहीं है।[3] हम कुछ पद्यांशों को देखें—'कप्पइ णे कप्पइ णे पाउ'[4] के आगे 'अहुवा विभूसाए' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो इस पद्यांश का स्पष्टी-करण न होते हुए उसकी पूर्ति कर रहा है। इसी प्रकार 'सन्ति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयन्ति य'[5] 'पाणा पाणे किलेसन्ति'[6] 'घोरे धम्मे उदीरिए'[7] आदि पद्यांशों का अर्थ स्पष्टीकरण आगे नहीं

१. आचारांग सूत्र, १. ४. १।
२. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट २२, पृष्ठ ४८।
३. आचारांग सूत्र, १. १. ३।
४. वही, १. १. ३।
५. वही, १. १. ४।
६. वही, १. ६. २।
७. वही, १. ६. ४।

हुआ है। 'अहो य राओ'—शब्दों का प्रयोग लोकविजय अध्ययन में भी हुआ है परन्तु वहाँ सया या अन्य शब्द से उसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया। इसके सिवाय दो अन्य स्थानों पर[1] 'दिया य राओ य' का प्रयोग हुआ है, जिनका कोई स्पष्टीकरण या अर्थ नहीं दिया गया है। इससे फलित होता है कि आचारांग सूत्र किन्हीं उपदेशों या उद्धरणों का टीका ग्रंथ नहीं है। दूसरे स्वयं याकोबी ने भी यह माना है कि इस ग्रंथ में कई ऐसे गद्यांश मिलते हैं, जिनकी रचना-शैली शेष सूत्रों की रचना-शैली की अपेक्षा विलक्षण है लेकिन उन्हें छाँटना और उनके मूलस्रोत का अन्वेषण करना असंभव-कार्य है।[2]

प्रश्नोत्तर शैली

इस ग्रंथ में प्रश्नोत्तर शैली के भी यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं सिर्फ प्रश्न करके ही ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है, जिसका उत्तर स्वयं पाठकों को देना पड़ता है। विशेषता यह है कि सब पाठकों के उत्तर समान ही निकलेंगे। सर्वोत्तम शिक्षण-प्रणाली में प्रश्नोत्तर प्रणाली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक की सफलता उसके इस प्रणाली की दक्षता पर आधारित रहती है। ज्ञात होता है कि उस समय आचार्य मुनियों को पढ़ाने के लिए इस प्रणाली का ही अधिक उपयोग करते होंगे। इसके कुछ उदाहरण निम्न प्रकार से दिये गये हैं—

को एत्थं ? अहमंसि[3] ?
किमेस जणो करिस्सइ[4] ?
सिया वेगे अणुगच्छन्ति[5] ?
किं बहिया मित्तमिच्छसि[6] ?
किं तत्थ, मुणी कारणं सिया[7] ?

---

१. आचारांग सूत्र, १. ६. ३ और १. ६. ४।
२. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट २२, पृष्ठ ४९।
३. आचारांग सूत्र, १. ९. २।
४. वही, १. ५. ५।
५. वही, १. ३. ३।
६. वही, १. ३. ३।
७. वही, १. ३. ३।

अरई तत्थ किं विधारए[1] ?
किमत्थि उवाही पासगस्स[2] ?
जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया[3] ?

रहस्यात्मक शैली

आचारांग सूत्र में एक और विशिष्ट शैली के भी दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं गूढ़सूत्रों अर्थात् रहस्यात्मक शैली का प्रयोग किया गया है, जैसे 'नेव से अंतो नेव से दूरे'[4] अर्थात् वह समीप भी नहीं और दूर भी नहीं। इस वाक्य के टीकाकारों ने कई अर्थ किये हैं। जीव काम भोगों के बीच रहते हुए भी वह सब भोग भोग नहीं सकता इससे उसके बीच रहना न रहने के बराबर है और वह भोगों की इच्छा का त्याग भी नहीं कर सकता इससे वह उन कामभोगों से दूर भी नहीं है।[5] प्रो० याकोबी ने इसका अर्थ किया है कि वह मृत्यु के निकट है, वह मुक्ति से दूर है परन्तु जो न मृत्यु के निकट है और न मुक्ति से दूर है वह सोचता है।[6] आगे का यह सूत्र भी मार्मिक है—'संसयं परिआणओ'[7]—अर्थात् जिसने संशय प्रश्न का परिज्ञान कर

---

१. आचारांग सूत्र, १. ६. ३।
२. वही, १. ४. ४।
३. वही, १. ४. ४।
४. वही, १. ५. १।
५. नैवासौ विषयसुखस्यान्तर्वर्तते, तदभिलाषापरित्यागाच्च नैवासौ दूरे, यदिवा यस्य गुरवः कामाः स किं कर्म्मणोऽन्तर्वर्त्तिनि प्रश्नावसरे सत्याह-'णेव से' इत्यादि, नैवासौ कर्म्मणोऽन्तः-मध्ये भिन्नग्रन्थित्वात्-सम्भावितावश्यंभाविकर्म्मक्षयोपपत्तेः, नाप्यसौ दूरे देशोनकोटीकोटी-कर्म्मस्थितिकत्वात्, चारित्राद्यप्तावपि नैवान्तर्नैव च दूरे इत्येतच्छक्यते वक्तुं, पूर्वोक्तादेव कारणादिति, अथवा येनेदं प्राणापि किमनावन्तर्मुहूर्तः संसारस्याहोविद्बहिर्वर्तते इत्याशंक्याह—'णेव से' इत्यादि, नैवासौ संसारान्तः घातिकर्म्मक्षयात् नापि दूरे अद्यापि भवोपग्राहिकर्म्म-सद्भावादिति। पृष्ठ १८०।
६. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट २२, पृष्ठ ४२।
७. आचारांग सूत्र, १. ५. १।

लिया उसका संसार भी परिज्ञात हो जाता है अर्थात् छूट जाता है और जिसने संशय का परिज्ञान नहीं किया उसका संसार भी अपरिज्ञात रहता है। संसार में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनके मन में अपने सांसारिक जीवन के विषय में कभी प्रश्न ही नहीं उठता, तब वे संसार को कैसे पार कर सकते हैं? यदि ऐसा संशय अपने मन में नहीं उठा तो संसार का अन्त संभव नहीं। क्योंकि साधना का प्रारंभ संशय से ही होता है। इसी बात को बौद्ध विद्वान् आर्य देव ने कहा है कि इस धर्म में अल्प पुण्य भागी प्राणी को संदेह भी नहीं होता।[1] प्रस्तुत ग्रन्थ के निम्न सूत्र इस विशिष्ट शैली को प्रदर्शित करते हैं—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ (१. ३. ४)

जे एगं नामे से बहुं नामे (१. ३. ४)
जे लोयं अब्भाइक्खइ (१. १. ३)
जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे (१. १. ४)
जे अज्झत्थं जाणइ (१. १. ७)
जे गुणे से मूलट्ठाणे (१. २. १)
जहा अंतो तहा बाहि (१. २. ५)
जहा पुण्णस्स कत्थइ (१. २. ६)
जं जाणिज्जा उच्चालइयं (१. ३. ३)
एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ (१. ३. ४)
जे आसवा ते परिस्सवा (१. ४. २)
पुव्वं दंडा पच्छा फासा (१. ५. ४)

विरोधी शब्द

एक दो स्थल ऐसे हैं, जहां विरोधी शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रथम वाक्य में 'अत्थि' और दूसरे में 'नत्थि'[2], इसी प्रकार पहले में 'लाभो' और दूसरे में 'अलाभो'।[3] पहले वाक्य का अर्थ लिखते हुए

१. चतुःशतक, ८-५।

२. अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए।
—आचारांग सूत्र, १. १. १।

३. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा। वही, १. २. ५।

टीकाकार ने[1] लिखा है कि वह आत्मा औपपातिक है, वह आत्मा औपपातिक नहीं है—इसका ज्ञान अज्ञानी को नहीं होता। दूसरे वाक्य को समझाते हुए टीकाकार ने लाभ और अलाभ दोनों को इकट्ठा करके ही समझाया है। अन्य उदाहरण—

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति (१. ३. १)
नारइं सहई वीरे वीरे न सहई रइं (१. २. ६)
अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं (१. ३. ४)
सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं (१.३.४)

सूक्ति-भण्डार

आचारांग सूत्र सूक्तियों का भण्डार है—विषय के विश्लेषण में सूक्तियों का स्वाभाविक समावेश हुआ है। विषय-सामग्री को देखकर ऐसा ज्ञात नहीं होता कि इन सूक्तियों को ऊपर से जोड़ा गया है।

आत्म-जागरण—

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति (१. ३. १)
आसं च छंदं च विगिंच धीरे! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु (१.२.४)
जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोह पाउडा (१. २. ४)
सयं मूढे धम्मं नाभिजाणइ (१. २. ४)
नारइं सहई वीरे-वीरे न सहई रइं (१. २. ६)
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ (१. २. ६)

अहिंसा—

लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं (१. ३. १)
समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए (१. ३. १)

---

१. 'अस्ति' विद्यतेममेत्प्रत्येनन षष्ठचन्तेन शरीरं निर्दिशति, ममास्य शरीरकस्याधिष्ठाता, अतति-गच्छति सततगतिप्रवृत्त आत्मा-जीवः अस्तीति, किं भूतः ? 'औपपातिकः' उपपातः-प्रादुर्भावोजन्मान्तरसंक्रान्तिः, उपपाते भव औपपातिक इति, अनेन संसारिणः स्वरूपं दर्शयति, स एवंभूत आत्मा ममास्ति नास्तीति च एवंभूता संज्ञा केषाञ्चिदज्ञानावष्टब्धचेतसां न जायत इति। टीका, पृष्ठ १५।

संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए (१. ३. ३)
विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुड्डएहि या (१. ३. ३)

आवर्त (संसार)—

जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे (१. १. ५)
जे गुणे से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे (१. २. १)
से असइं उच्चागोए असई नीआगोए नो हीणे नो अइरित्ते।
नोऽपीहए। इय संखाय को गोयावाई को माणवाई (१. ३. ३)
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए (१. २. १)
वओ अच्चेइ जोव्वणं व (१. २. १)

महावीथि—

अणगारे उज्जुकडे नियापडिवण्णे (१. १. ३)
अमायं कुव्वमाणे वियाहिए (१. १. ३)
जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा (१. १. ३)
वियहित्ता विसोत्तियं पणया वीरा महावीहिं (१. १. ३)
विणावि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे (१. १. २)
जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ (१. २. २)

सामान्य—

लाभुत्ति न मज्जिज्जा अलाभुत्ति न सोइज्जा (१. २. ५)
बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा (१.२.५)
दुब्बसुमुणी अणाणाए (१. २. ६)
तुच्छए गिलाइ वत्तए (१. २. ६)
एस वीरे पसंसिए (१. २. ६)
अच्चेइ लोय संजोगं (१. २. ६)
एस नाए पवुच्चइ (१. २. ६)
निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं (१. ३. २)
कोहाइमाणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं (१. ३. २)
तम्हा य वीरे विरए वहाओ छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी (१.३.२)
नत्थि कालस्स णागमो (१. २. ३)

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा (१.२.३)
पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं (१. २. ३)
इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो (१. २. ३)
जाईमरणं परिन्नाय चरे संकमणे दढे (१. २. ३)
तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि (१. ३. ३)
उड्ढं सो पासगस्स नत्थि (१. २. ३)
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ (१. ३. ४)
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ (१. ३. ४)
सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं (१. ३. ४)
अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए (१. ३. २)
आसं च छंदं च विगिंच धीरे ! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु, (१.२.४)
जेण सिया तेण नो सिया (१. २. ४)
विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो (१. २. २)
लोभं अलोभेण दुगंछमाणे लद्धेकामे नाभिगाहइ (१. २. २)

शब्द-प्रयोग की विशिष्ट परम्परा

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि किसी समय श्रमण और ब्राह्मण—ये दोनों परम्पराएँ सर्वदा पृथक् रही थीं, परन्तु आचारांग के निर्माण काल में दोनों परम्पराओं में एक दूसरे के ग्रन्थों से या विचारों से आदान-प्रदान करने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्राह्मणों ने श्रमण परम्परा के और श्रमणों ने ब्राह्मण परम्परा के जीवन को समुन्नत बनाने वाले विचारों को अपनाकर समन्वय का प्रयत्न किया था। आचारांग में ब्राह्मण ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों के नए अर्थ मिलते हैं, जो इस ग्रन्थ की नई शैली को प्रदर्शित करते हैं। महावीर की तपसाधना का वर्णन करते हुए उन्हें मतिमान् ब्राह्मण कहा गया है।[1] ग्रन्थ के

---

१. लाभो वस्त्राहारादेर्मम संजात इत्यतोऽहो ! अहं लब्धिमानित्येवं मदं न विदध्यात्, न च तदभावे शोकाभिभूतो विमनस्को भूयादिति, अलाभे सति शोकं न कुर्यात्, कथं ? धिग्मां मन्दभाग्योऽहं येन सर्वदानोद्यतादपि दातुर्न लभेऽहमिति, अपि तु तयोर्लाभालाभयोर्माध्यस्थ्यं भावनीयमिति। टीका, पृष्ठ १२१।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन में भगवान् महावीर की समभाव और अहिंसा की साधना का वर्णन है और ऐसे घोर तपस्वी साधक को क्षत्रिय होते हुए भी मतिमान् ब्राह्मण कहा गया है। इस प्रकार सूत्रकार ने वैदिक परम्परा में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द का अर्थ विकसित कर दिया है। ज्ञातपुत्र को वीर भी कहा है क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष, काम-क्रोध पर विजय प्राप्त की है। विषय-वासनाओं पर विजय पाने हेतु वीर को कैसा युद्ध करना होता है, इसका भी इसमें सजीव चित्रण है।[1]

बौद्धों में बुद्ध के कई शताब्दियों के बाद महायान शब्द का प्रयोग हुआ परन्तु आचारांग में महावीथि और महायान शब्द उपलब्ध है। उसमें महावीर की महाकरुणा और प्रज्ञा की जनक संयम-साधना को महावीथी[2] या महायान[3] शब्द से सम्बोधित किया गया है।

वैदिक पुरुष अपने आपको आर्य कहते थे। वेदों और ब्राह्मणों में आर्य शब्द का जो रूप मिलता है, उससे सर्वथा भिन्न एवं उन्नत अर्थ में वह आचारांग में पाया जाता है। आर्य वह है जिसके जीवन-गवाक्ष से स्नेह, समता, अहिंसा, अभय, अप्रमाद, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रकाश छन-छन कर आता है, जो उसके साधना-पथ को आलोकित करता है। यह आचारांगसूत्र की शैली की विशेषता है कि उसने ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पण्डित, आर्य, वेदविद् आदि शब्दों का प्रयोग उनके उन्नत अर्थों में किया गया है। आचारांग में वसु और अणुवसु इन शब्दों का प्रयोग आता है। चूर्णिकार और टीकाकारों ने उनका स्पष्टीकरण किया है कि वसु का अर्थ—वीतराग पुरुष, तीर्थंकर या संयत पुरुष है। सराग को अणुवसु कहते हैं, वह स्थविर और श्रावक होता है। वसु शब्द वैदिक है, वह देवों के एक वर्ग का नाम है। उस वर्ग में आदित्य आदि आठ नाम हैं। श्रमण परम्परा में उसी शब्द को अपनाकर तीर्थंकर को वसु और उसका अनुसरण करने वाले को अणुवसु कहा गया है। इतना ही नहीं वसु का वीतराग अर्थ करके यह

१. आयारो ४.११।
२. वही, १.१७।
३. वही, ३.७८।

स्पष्ट कर दिया है कि व्यक्ति की पवित्रता वीतरागता के कारण है, अन्य किसी कारण से नहीं।

आचाराङ्ग का शब्द भण्डार

आचाराङ्गसूत्र का शब्द-भण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त है—तत्सम, देश्य और तद्भव। तत्सम वे संस्कृत शब्द हैं जिनकी ध्वनियों में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। जैसे—भोग[1], चय[2], चर,[3] जरा[4] आदि। जिन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं बतलाई जा सकती है अर्थात् जिन शब्दों का अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित है ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहते हैं। जैसे—झिमिय[5], दुरुक्क,[6] मिहुण,[7] मंथु[8] आदि। जो शब्द संस्कृत के वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार अथवा वर्ण-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न हुए वे तद्भव कहलाते हैं। जैसे—अग्र=अग्ग,[9] धर्म=धम्म[10]। प्राकृत भाषा के समान ही आचाराङ्गसूत्र में भी तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है।

(अ) **ध्वनि परिवर्तन और आचारांग** : भाषा विज्ञान के द्वारा ही भाषाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण या विवेचन किया जाता है। इसके अन्तर्गत ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ इन चारों का विचार किया जाता है। भाषा की सबसे पहली इकाई ध्वनि है। इसी के आधार पर भाषा का सम्पूर्ण प्रासाद खड़ा है। ध्वनियों के संयोग से शब्द और शब्दों के संयोग से वाक्य बनते हैं। विचार, भाव एवं इच्छा को प्रकट करने वाला वाक्य होता है। वाक्य, शब्द और ध्वनि भाषा का शरीर है और अर्थ उसकी आत्मा है। ध्वनि परिवर्तन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—स्वयम्भू और परोद्भूत। भाषा के प्रवाह में स्वयम्भू परिवर्तन किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति की अपेक्षा किये बिना कहीं भी घटित हो सकता है और परोद्भूत परिवर्तन किसी अन्य की अपेक्षा को लेकर होता है।

---

१. आचारांग, २.७९।
२. वही, १.१११।
३. वही, ३.४५, ९.३.२।
४. वही, ३.१०।
५. वही, ६.८।
६. आचारांग चूला, १.१११।
७. वही, १५.२८।
८. आचारांग, ९.४.४।
९. वही, ३.३४।
१०. वही, ३.१०

ध्वनि परिवर्तन की विभिन्न दिशाएं

१. लोप—लोप दो प्रकार का होता है—स्वरलोप और व्यञ्जन-लोप। इन दोनों के तीन-तीन भेद किए गए हैं—आदिलोप, मध्यलोप और अन्तलोप। जैसे—

(१) आदि स्वर लोपः— अगार=गार।[1]
(२) मध्यस्वर लोपः— इमं अपि=इमंपि
(३) अन्तस्वर लोपः— ऋजु=रिय
(४) आदि व्यञ्जन लोपः— स्थंडिल=थंडिल[2]
(५) मध्यव्यञ्जन लोपः— आकुट्टि—आउट्टि[3], आतुर=आउर।[4]
(६) अन्त व्यञ्जन लोप :—भवति=भवइ, राजन्=राय[5], कतो=कओ[6]।

२. आगम—जिस प्रकार लोप के भेद बताये गये हैं उसी प्रकार आगम के छः भेद होते हैं :

(१) आदि स्वरागम :—स्त्री=इत्थी[7]
(२) मध्यस्वरागम :—नग्न=णगिण,[8] ईर्या=इरिया।[9]
(३) अन्त स्वरागम :—महत्=महंत।[10]
(४) आदि व्यञ्जनागम :—वर्ग=वग्ग।
(५) मध्य व्यञ्जनागम :—आउकाल=आउक्काल
(६) अन्त्य व्यञ्जनागम :—कोश=कोसय।

यद्यपि व्यञ्जनागम के उदाहरण आचाराङ्ग में उपलब्ध नहीं होते हैं।

३. **समीकरण**—इस सिद्धान्त में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को

---

१. आयारो, १.९८। २. वही, ८.८.७।
३. वही ५.७३। ४. वही, १.१४।
५. वही, २.४१। ६. वही; ४.८।
७. वही, ५.७७। ८. वही, ६.४७।
९. वही, ८.१२६। १०. वही, ३.४९।

प्रभावित कर अपना रूप दे देती है। समीकरण तीन प्रकार का होता है।

(१) पुरोगामी समीकरण :—जहाँ प्रथम ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करती है, वहाँ पुरोगामी समीकरण होता है।
जैसे—अश्व=अस्स।[1]

(२) पश्चगामी समीकरण :—जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनि को प्रभावित करती है तब पश्चगामी समीकरण कहलाता है। जैसे—

मुक्ति=मुत्ति,[2] तर्क=तक्क[3]।

(३) पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण :—जहाँ दो व्यञ्जन एक दूसरे को प्रभावित करके अपने से भिन्न अन्य तीसरे व्यञ्जन में परिवर्तित हो जायें वहाँ पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण होता है। जैसे—मृत्यु=मच्चु,[4] तत्त्व=तच्च[5]।

४. विषमीकरण—समीकरण का उल्टा विषमीकरण होता है। इसमें दो समान ध्वनियाँ होती हैं। यहाँ एक ध्वनि के प्रभाव से अथवा मुख की सुविधा के कारण एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़कर दूसरी बन जाती है। इसके भी दो भेद हैं—पुरोगामी विषमीकरण और पश्चगामी विषमीकरण।

(१) पुरोगामी विषमीकरण :—जब पूर्ववर्ती व्यञ्जन ज्यों का त्यों रहता है और परवर्ती व्यञ्जन परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी विषमीकरण कहते हैं। जैसे—प्रजा=पया।[6]

(२) पश्चगामी विषमीकरण—जब द्वितीय व्यञ्जन ज्यों का त्यों रहे और प्रथम व्यञ्जन बदल जाये तो वह पश्चगामी विषमीकरण कहलाता है। जैसे—प्रचल=पयल,[7] दाह=डाह।[8]

५. अनुनासिकता—आचारांगसूत्र में कहीं-कहीं निरनुनासिक

---

१. आयार चूला, १५.२८।
२. आयारो, ६.३।
३. वही, ५.१२४।
४. वही, ३.१०, ४.१६।
५. वही, ४.४।
६. वही, ३.४७।
७. आयार चूला, १.५१।
८. आयारो, २.८४।

ध्वनि को सानुनासिक बना दिया गया है। जैसे—महत्=महंत[1], दर्शन=दंसण[2]।

६. मात्राभेद—मात्रा भेद भी ध्वनि-परिवर्तन की एक प्रमुख दिशा है, जिसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाता है। जैसे—जिह्वा=जीहा,[3] ग्रीष्म=गिम्ह[4]।

७. घोषीकरण—इसके अनुसार अघोष ध्वनियाँ घोष में बदल जाती हैं। जैसे—रात्र=राय,[5] एकदा=एगया,[6] एकान्त=एगन्त।[7]

८. महाप्राणीकरण—कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण में परिवर्तित हो जाती हैं। जैसे—परुषता=फरुसिया,[8] स्पर्श=फरिस।[9]

९. उष्मीकरण—इसमें ख, घ, थ, ध, और भ के स्थान में 'ह' हो जाता है। जैसे—दुर्लभ=दुल्लह।[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि-परिवर्तन के जो प्रमुख प्रकार हैं, वे सब इस ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। अतः आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस ग्रन्थ की भाषा का परीक्षण किया जा सकता है।

व्याकरण सम्बन्धी नियम और आचारांग

धातु और प्रत्यय के संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन का विचार व्याकरण में किया जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति एवं उनके निर्माण की प्राणवन्त प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन व्याकरण के द्वारा ही होता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है, उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है। साथ ही धातु और प्रत्ययों के

---

१. आयारो ३.४९। २. वही, ३.७२।
३. वही, २.२५। ४. वही, ८.५०।
५. वही, ५.४४। ६. वही, २।६।
७. वही, ८.१०६। ८. आयार चूला, ३.७।
९. आयारो १.१६४। १०. वही, ५.४६।

अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। इसके अन्तर्गत आचारांग में प्रयुक्त सन्धि, समास, कृदन्त, तद्धित आदि पर विचार करना उपयुक्त होगा।

१०. सन्धि—भाषा के स्वाभाविक विकास में सन्धियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन्धि के ही कारण ध्वनियों में नाना प्रकार का परिवर्तन होता है। आचारांगसूत्र की भाषा प्रारम्भिक रूप की ही मालूम पड़ती है, क्योंकि इसकी भाषा में सन्धि प्रयोग बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मौखिक शैली में शब्दों को पृथक्-पृथक् बोलने की प्रथा रही होगी, जिससे जहाँ सन्धि हो सकती थी या वैसी सन्धि पहले से मौजूद थी, वहां शब्दों को अलग-अलग ही रखा गया है। इतना होने पर भी सामान्य प्राकृत के समान इस ग्रन्थ में कुछ सन्धियाँ भी की गई हैं। जैसे—

(क) **स्वर सन्धि** :— सीअ+उदग—सीओदग[1]

किसी स्वर के रहते कभी-कभी सन्धि होने पर उसके पूर्व के स्वर का लोप हो जाता है—

गच्छ+इज्जा—गच्छेज्जा[2]
गज्जदेव+इति—गज्जदेवेति[3]

(ख) **व्यञ्जन सन्धि** :—

तद्+मुत्तीए—तम्मोत्तीए[4]
तद्+पुरक्कारे—तप्पुरक्कारे[5]
तद्+निवसणे—तन्निवेसणे[6]
छुक्+छुक्—छुच्छुक्[7]

(ग) **समास** :—सन्धि के समान सामासिक शब्दों के उदाहरण भी आचारांग में बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं। जैसे—

१. अव्ययीभाव समास—अणुगामं[8]

---

१. आयार चूला, १.६३।
२. आयारो, ३.५७।
३. आयार चूला ४.१६।
४. आयारो ५.६८।
५. वही,
६. वही,
७. वही, ९.३.४।
८. वही, १.८.५.।

२. तत्पुरुष समास—पायपुंछणं,[1] मुत्तिमग्गं।[2]
३. नञ्तत्पुरुषसमास—अणेगा[3]
४. द्वन्द्व समास—अहोनिसं,[4]
५. कर्मधारय—तप्पुरक्कारे[5]

(घ) अव्यय :—निम्न अव्ययों का प्रयोग आचारांगसूत्रमें उपलब्ध होता है—अदुवा, अह, अहा, अहुणा, अहो इयाणिं इह एगया एवं कत्थ कयाइ खलु हु खु ज इ जत्थ जहा णं ताव ति तु उ न नो पुण य व वि विणा वइ सया सव्वओ सह हेता हु रत्था।

(ङ) उपसर्ग :—आचारांगसूत्र में निम्न उपसर्गों का प्रयोग किया गया है—

अणु[6], सम[7], पडि[8], परि[9], प[10], आ[11], वि[12], अभि[13] उव[14], अव[15], नि[16], उद्[17], दु[18], सु[19], उक्[20], वो[21], विप्परा[22], अहि[23], ओ[24] आदि।

प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा की तुलना

आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा स्पष्ट तौर पर

---

१. आयारो २.११२।
२. आयार चूला, १५.३६।
३. आयार चूला, ३.१३।
४. आचारांग सूत्र, २.४.१०।
५. आयारो ५.६८।
६. आयारो १.८
७. आयारो १.२२
८. आयारो २.३८
९. आयारो १.१०
१०. आयारो १.४३
११. आयारो २.५८
१२. आयारो १.१९
१३. आयारो २.५
१४. आयारो २.३८
१६. आयारो ३.७८
१५. आयारो ३.८६
१७. आयारो २.९४
१८. आयारो ५.४६
१९. आयारो ८५
२०. आयार चूला, २.१०
२१. आयारो १.१.४
२२. आयारो २.१५०
२३. आयारो २.३१
२४. आयार चूला, ७.३

पर्याप्त अन्तर रखती है। शब्द और वाक्यविन्यास भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों का अन्तर साधारण पाठक भी भलीभांति समझ सकता है।

पहली बात तो यह है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में तत्सम शब्दों की अपेक्षा देश्य और तद्भव शब्दों के प्रयोग की बहुलता है, जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध मे अधिकतर तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। देश्य शब्द के बारे में आचार्य शीलाङ्क ने अपनी टीका में सिर्फ एक शब्द "बिग्गल" को प्रदेशपतित संस्कृत कहा है।[1] इसी प्रकार तद्भव शब्द भी अल्प मात्रा में उपलब्ध है।

परोदभूत ध्वनि-परिवर्तन में लोप के कुछ उदाहरण प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाये जाते हैं,[2] किन्तु दूसरे श्रुतस्कन्ध में इनकी संख्या अधिक है।[3] भवद् क्रिया दोनों में समान रूप से पाई जाती है। स्वर या व्यञ्जन आगम के उदाहरण प्रथम श्रुतस्कन्ध में पर्याप्त हैं,[4] जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में इनके इने-गिने उदाहरण मिलते हैं।[5]

आचारांग में सिर्फ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित शब्दों का ही 'समीकरण' देखा जाता है। शेष शब्दों के सम्बन्ध में द्वितीय श्रुतस्कन्ध सरल व्याकरणीय पद्धति में चलता है, जैसे मुक्ति=मुत्ति[6]। धम्म तक्क आदि शब्दों के समान द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 'मार्ग' से मग्ग[7] बनाया तो गया परन्तु प्रथम स्वर ह्रस्व कर दिया गया। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नित्य के लिए णिच्च शब्द का प्रयोग हुआ है जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में यह शब्द नियए के रूप में पाया जाता है।

विषमीकरण और आनुनासिकता के कोई उदाहरण दूसरे श्रुत-

---

१. शीलांक टीका—पृ० ३१०

२. इति=ति, अगार=गार, यावत्कहा=आवकहा, भवति=भवइ

३. उदग=दग, महलो=महई

४. स्त्री=इत्थी, ईर्या=इरिया, कोश=कोसग इत्यादि

५. मरिच=मिरिय, स्त्री=इत्थी, स्नान=सिणाण

६. आचारांग ६।३. ७. आचारांग चूला १।४२.

स्कन्ध में उपलब्ध नहीं है। मात्रा-भेद में कहीं-कहीं समानता पाई जाती है, जैसे—चूर्ण—चुण्ण।[1]

शेष बातों में इन दोनों श्रुतस्कन्धों में असमानता ही है। इन दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा की तुलना में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के समान द्वितीय श्रुतस्कन्ध का शुद्ध मूल पाठ तैयार नहीं है और इन दोनों की विषय-सामग्री सर्वथा अलग-अलग होने से समान शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। फिर भी जो प्रवृत्ति प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाई जाती है वह दूसरे श्रुतस्कन्ध में नहीं है। विध्यर्थक क्रिया के रूप में प्रथम श्रुतस्कन्ध में सज्जेज्जा,[2] करेज्जा, जाणेज्जा[3] आदि धातुओं का प्रयोग बहुलता से किया गया है परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ए के स्थान में इ का ही उपयोग बहुलता से हुआ है। जैसे—मुञ्जिज्जा, गच्छिज्जा, पाइज्जा, जाणिज्जा आदि।

सुब्भि और दुब्भि दोनों शब्दों का प्रयोग दोनों श्रुतस्कन्धों में समान रूप से हुआ है[4]। लेकिन प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाणाणं[5] का प्रयोग है, जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं[6] का उपयोग किया गया है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में कहीं-कहीं बिल्कुल भाषा के समान ही प्रयोग देखे जाते हैं। जैसे विहरामि[7], संतुं[8] इत्यादि। सुच्चा और नच्चा का प्रयोग दोनों श्रुतस्कन्धों में एक समान है, लेकिन द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कट्टु[9] आहट्टु[10] आदि का प्रयोग अधिक देखा गया है।

नालं,[11] नारइं, परिसहोवसग्गे,[12] तमेव[13] मित्तमिच्छसि[14] आदि साधारण तौर पर प्रयुक्त होने वाली सन्धियों का प्रयोग प्रथम श्रुत-

---

१. आचारांग चूला २.२१.
२. आचारांग ८.८.४.
३. वही २.१९१.
४. वही ६.५५; आचारांग चूला १.१२५.
५. आचारांग १.१२२.
६. आचारांग चूला १.१२.
७. वही १.१५५.
८. वही २.५०.
९. वही १.३२
१०. वही १.१०४.
११. वही २.८.
१२. वही ८.१६०.
१३. वही १.३६
१४. वही ३.६२

स्कन्ध में उपलब्ध होता है, जबकि ऐसे ही स्थल आने पर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सन्धियों का अभाव देखा जाता है। जैसे—णच्चा+उदीणं[1] तहप्पगारं+असणं[2], वा+आहेणं[3] ये सन्धियां यहां देखने को मिली हैं—जवोदगं,[4] पुव्वामेव[5]।

इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा शैली में प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा शैली की अपेक्षा पर्याप्त भिन्नता है इससे स्पष्ट होता है कि यह भाग बाद में जोड़ा गया है। प्रायः सभी विद्वान् इस तथ्य से सहमत हैं।

आचारांग का साहित्यिक पक्ष

किसी भी रचना में साहित्यिक अभिव्यक्ति की खोज करने के लिए हमें कुछ नियम निर्धारित करने पड़ते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के चार प्रधान तत्व माने हैं। ये चार तत्त्व हैं—बौद्धिकता, भावनात्मकता, कला और शैली।[6] श्री यज्ञदत्त शर्मा के कथनानुसार इन तत्त्वों की न्यूनाधिकता के आधार पर ही कोई रचना साहित्य में स्थान पाती है।

बुद्धितत्त्व

बुद्धितत्त्व शुष्क और नीरस तर्कवाद का आश्रय लेकर नहीं चलता। वह स्वाभाविक उक्तियों और भावनाओं को आश्रय मानकर खड़ा होता है। सूत्रकार ने आत्मा और परमात्मा का सूक्ष्म चित्रण सरल जनोपयोगी भाषा में किया है, जिससे सुन्दरभावमयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। आचारांगसूत्र अध्यात्म और तत्त्वज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ है। आत्मा और उसके पुनर्जन्म की विचारणा से यह ग्रंथ प्रारम्भ हुआ है।[7] अहिंसा का हृदय[8] समझकर ही व्यक्ति

१. आयार चूला १.२७ २. वही १.२५.
३. वही १.४२. ४. वही १.१०१.
५. वही १.२५. ६. कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० ४३
७. अत्थि आया ओववाइए, जो मे इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सोऽहं।
—आ० सू० १।१।४
८. देखें—आचाराङ्गसूत्र प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक।

सच्चा साधक बन सकता है। इसलिए अहिंसा का यथार्थ एवं व्यावहारिक रूप रखा गया है। आत्मा की अन्तरवृत्तियाँ ही कर्मबन्ध और मोक्ष का कारण हैं। इसलिए उनके समझ लेने पर सारी चीजें समझ में आ जाती हैं। लोकविजय अध्ययन में संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए ममत्व भाव को नष्ट[1] करने के प्रयास को प्राथमिकता दी गई है। इसी प्रकार शीतोष्णीय अध्ययन में इष्ट-अनिष्ट परिस्थितियाँ आने पर साधक को समभाव रखने की[2] शिक्षा दी गई है। साधक को श्रद्धालु एवं चरित्रवान् होना चाहिए। चरित्र ही जीवन का सार है इसके बिना आत्मकल्याण सम्भव नहीं। इस प्रकार आचारांगसूत्र में अहिंसा, सत्य, त्याग, संयम, तप, अनासक्ति, ब्रह्मचर्य, व्रत आदि का तलस्पर्शी विवेचन है। संक्षेपतः इसमें वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जो आध्यात्मिक जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनिवार्य हैं।

भावना तत्त्व

किसी भी साहित्यिक रचना में ज्ञान पक्ष के समान भावना पक्ष भी प्रबल होना चाहिए। केवल तथ्य प्रस्तुत करने से पाठक के हृदय पर प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिस रचना में भावना तत्त्व का जितना प्राबल्य होगा उसका उतना अधिक प्रभावशाली होना सम्भव है। आचारांगसूत्र में कामना और वासना के क्षेत्र से बाहर निकालकर निर्वाण के परमानंद की स्थिति को प्राप्त कराने में समर्थ तत्त्व विद्यमान हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आचार या चरित्र पर तथ्यों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि एक आदर्श जीवन का पड़ता है। इसलिए आचारांगसूत्र में भावना[3] नामक अध्ययन के अन्तर्गत भगवान् महावीर के जीवन का वर्णन आता है। इसी में व्रतों

१. जे ममाइय-मइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं।
से हु दिट्ठ-पए मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं॥
—आ० सू० १।२।६

२. सोच्चा वई मेहावी पण्डियाणं निसामिया
समियाए धम्मे आरिएहि पवेइए।
—आ० सू० १।५।३

३. आ० सू० २.१५

की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पांच-पांच भावनाएँ बताई गई हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भावना को व्रत का सहायक माना गया है।[1] आचाराङ्ग-सूत्र का विषय एवं उसके वर्णन की शैली सीधे हृदय पर प्रभाव डालने वाली है। एक स्थान पर कहा गया है कि 'जो लोक का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा का अपलाप करता है'[2]। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव और सामान्य आत्मा में समानता का वर्णन करके इस भावना को प्रेरित किया गया है कि व्यक्ति हिंसा न करे।[3]

कल्पना तत्त्व

आध्यात्मिक ग्रन्थों में कल्पना तत्त्व का समावेश करना अत्यधिक कठिन कार्य है। सूत्रकार मुक्तात्मा के वर्णन में कल्पना का आश्रय नहीं ले सका क्योंकि वह अवर्णनीय है। कल्पना तत्त्व रूपक और उपमा अलंकारों में उपस्थित होता है। यद्यपि सूत्रकार ने कल्पना के पीछे लम्बी उड़ाने भरना अपना लक्ष्य नहीं बनाया है फिर भी उसके स्वाभाविक वर्णन में कल्पना तत्त्व उभरकर प्रत्यक्ष आ ही गया है :—

जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थई १।४।३
अवि हरए पडिपुण्णे चिट्ठइ समंसि भोमे १।५।५
जहा वि कुम्मे हरए विनिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उन्मग्गं
से नो लभइ १।६।१
सूरो संगामसीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे १।९।३

इसके अतिरिक्त आचाराङ्गसूत्र के अन्तिम अध्ययन 'विमुक्ति' में भी कल्पना तत्त्व के दो-तीन उदाहरण मिलते हैं। जैसे—जिस प्रकार आंधी में पर्वत अकम्प रहता है,[4] जिस प्रकार युद्ध में गया हाथी

---

१. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च। तत्त्वार्थसूत्र, ७.३
२. जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति—आ० सू० १.१.४
३. आ० सू० १.१.७
४. गिरिव्व वाएण न संपवेवए। आयार चूला, १५.३

बाणों से पीड़ित होता है[1] और 'जिस प्रकार सर्प कांचली छोड़ देता है'।[2]

शैली

भाषा में न्यूनाधिक मात्रा में भावों और विचारों के प्रेषण की शक्ति निहित रहती है। विचारों और भावनाओं के परिवहन के लिए ही भाषा का प्रादुर्भाव हुआ है। सुलझे हुए व्युत्पन्नमति लोगों के द्वारा प्रयुक्त होने पर भाषा में एक अद्भुत प्रकार की सहज प्रेषणीयता आ जाती है। भाषा में जब प्रेषणीयता के साथ कलात्मक सौष्ठव का सन्निवेश होता है तभी शैली का आविर्भाव होता है।[3] भाषा की शक्ति और उसकी सुन्दरता के कारण उसमें सक्षमता और आकर्षण आता है। प्लेटो का कथन है कि जब भाषा में लेखक की अन्तर्दृष्टि और आत्मदर्शन की सम्यक् अभिव्यक्ति होती है तभी शैली का जन्म होता है।[4] साहित्य का प्रयोजन केवल तथ्यों से नहीं है और न केवल सत्य मात्र से; वह तो सत्यं, शिवं, सुन्दरं का समन्वय प्रस्तुत करता है। शैली का वर्गीकरण सरल, मध्यम और महान—इन तीन प्रकार से किया गया है। सरल शैली प्रशिक्षण के उपयुक्त होती है। आचारांग-सूत्र साधुओं के प्रशिक्षण का एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। अतः उसका सरल शैली में लिखा जाना उपयुक्त था। इसके लिए छोटे-छोटे वाक्य, जनभाषा और अधिक प्रचलित देश्य शब्दों का प्रयोग आवश्यक है जो इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व शब्द का होता है, क्योंकि शब्द ही भाषा की अन्विति है परन्तु आचारांगसूत्र में शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक जोर दिया गया है। इस ग्रन्थ में थोड़े में बहुत कहा गया है। शब्द-शक्ति के अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये ३ भेद किये गये हैं। आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में अभिधा के दर्शन होते हैं तो कहीं-कहीं लक्षणा और व्यंजना का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वैसे गद्य में लक्षणा और व्यंजना का केवल सीमित प्रयोग किया गया है।

---

१. सरेहिं संगामगयं व कुंजरं। आयार चूला १५.२

२. भुजगमे जुन्नतयं जहा चए। वही १५.९

३. साहित्य रूप : पृ० १७०।

४. वही, पृ० १७१।

शैली का स्वरूप बहुत कुछ वाक्य विन्यास पर निर्भर होता है। आचारांगसूत्र में साधारण वाक्यों की बहुलता है इसलिए वह सुगम और स्पष्ट है। संगीत और कविता में लय का विशेष स्थान है किन्तु गद्य में भी लय का कम महत्व नहीं है। गद्य शैली में गति और प्रवाह का समावेश लय के कारण ही होता है। शब्द और वाक्यांश अलग-अलग होते हैं। किन्तु लय की धारा में बहकर वे एक रस हो जाते हैं तथा अर्थ प्रकाशन में एक दूसरे की मदद करते हैं। एक शब्द का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। क्रमबद्धता भी शैली का एक प्रकार है। हम आचारांगसूत्र में इसके भी दर्शन करते हैं—प्रथम अध्ययन में स्थावर एवं त्रस जीवों का क्रमबद्ध वर्णन मिलता है इसी प्रकार अष्टम अध्ययन के ४, ५, ६ और ७ वें उद्देशक में सचेलत्व और अचेलत्व का क्रमबद्ध वर्णन दिया गया है। गद्य में अलङ्कारों का सीमित प्रयोग किया जाता है।

वृत्यनुप्रास—

से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई १-१-१
से आयबले, से णाइबले, से मित्तबले से पेच्चबले १-२-२
लोगस्स अहोभागं जाणइ उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं
भागं जाणइ १-२-५
आउकायं तेउकायं च वाउकायं च तसकायं च १-९-१
एगया वासो—इसका ४ बार प्रयोग हुआ है १-९-२
तणफासे सीयफासे य तेउफासे १-९-३

छेकानुप्रास—

से न किणे न किणावए १-२-५
जहा अंतो तहा बाहि जहा बाहि तहा अंतो १-२-५
सुब्भि वा अदुवा दुब्भि वा अदुवा १-६-२
से समणविब्भन्ते समण विब्भन्ते १-६-४

लाटानुप्रास—

कप्पइ णे कप्पइ णे १-१-४

उपमा—

पासइ फुसियमिव कुसग्गे १-५-१।

छन्द —

आचाराङ्गसूत्र गद्यपद्यात्मक शैली में लिखा गया है। गद्य को पढ़ते समय भी उसमें पद्य शैली का रसास्वादन किया जा सकता है। इसलिए गद्यांश में कहीं-कहीं चौथाई, आधा या तीन-चौथाई छन्दों की उपलब्धि होती है। इस ग्रन्थ में दो प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।

श्लोक—

पूरे ग्रन्थ में ३० पूर्ण श्लोक छन्द पाये जाते हैं। ११ श्लोक ऐसे भी मिलते हैं जिनमें मात्रा की न्यूनाधिकता के कारण छन्दभंग हो जाता है। १ तीन-चौथाई और ११ आधे श्लोक हैं। १ पाद वाले श्लोकों की संख्या बहुत है।

इणमेव नावकंखंति जे जणा धुवचारिणो।
जातीमरणं परिन्नाय चरे संकमणे दढे ॥ १-२-३
नारइं सहए वीरे वीरे नो सहए रइं।
जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जइ ॥ १-२-६
अणन्न परमन्नाणी नो पमाए कयाइ वि।
आयगुत्ते सया वीरे जायामायाए जावए ॥ १-३-३
एत्थ विरते अणगारे दीह रायं तिइक्खए।
पमत्ते बहिया पास अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १-५-२
मुणी मोणं समायाए धुणे कम्म सरीरगं।
पंतं लूहं च सेवंति वीरा समत्तदंसिणो ॥ १-५-३
उड्ढं सोया अहे सोया तिरियं सोया वियाहिया।
एए सोया वियक्खाया जेहिं संगंति पासहा ॥ १-५-६

इसी प्रकार १-२-३, १-२-६, १-३-१, १-३-३, १-४-४, १-६-१, १-६-५, १-८-८ में पूर्ण श्लोक पाये जाते हैं।

आधे श्लोक के उदाहरण—

सन्ति संपाइमा पाणा आहच्च संपयन्ति य। १-१-७
विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो। १-२-२
'न मे देइ न' कुप्पेज्जा थोवं लद्धुं न खिसए। १-२-४
कम्बलं पायपुच्छणं ओग्गहं च कडासणं। १-२-५

१-२-६, १-४-१, १-४-४, १-५-६ और १-६-४ में द्रष्टव्य।

अशुद्ध श्लोक—

मज्झिमेणं वयसा एगे सम्बुज्झमाणा समुट्ठिता।
सोच्चा वई मेहावी पंडियाणं निसामिया ॥ १-८-३
आरंभजं दुक्खमिणं ति नच्चा माई पमाई पुनरेइ गब्भं।
उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जु माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ।
१-३-१

१-८-८ में ९ अशुद्ध श्लोक मिलते हैं।

त्रिष्टुभ—

पूरे ग्रन्थ में १० पूर्ण छन्द त्रिष्टुभ् प्रकार के हैं। २ तीन-चौथाई तथा ४ आधे त्रिष्टुभ् छन्द मिलते हैं।

उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं,
आरंभजीवी उ भयाणुपस्सी।
कामेसु गिद्धा निचयं करेंति,
संसिच्चमाणा पुनरेंति गब्भं ॥ १-३-२

अवरेण पुव्वं न सरंति एगे
किमस्से इयं किं वागमिस्सं
भासन्ति एगे इह माणवा उ
जमस्सतीतं आगमिस्सं ॥ १-३-३

नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि,
इच्छापणीया वंकानिकेया।
कालग्गहीआ निचए निविट्ठा,
पुढो-पुढो जाइं पकप्पयंति ॥ १-४-२

असंभवन्ता विडज्झमाणा,
कामेहि गिद्धा अज्झोववन्ना
समाहिमाघाय मझोसयन्ता
सत्थारमेव फरुसं वयन्ति। १-६-४

आर्षे त्रिष्टुभ् के उदाहरण—

रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति
नियाणाओ ते न लभन्ति मोक्खं १-६-१
नरा मुयच्चा धम्मविउ त्ति अंजू
आरम्भजं दुक्खमिणं ति नच्चा। १-४-३

नवम अध्ययन के चारों उद्देशकों में कुल ७० छन्द हैं। हर्मन याकोबी का कथन है कि इन छन्दों को श्लोक कहते हैं परन्तु इनके कथनानुसार ये प्रारम्भ में श्लोक मालूम पड़ते हैं परन्तु मात्राओं में अत्यधिक न्यूनाधिकता हो जाने के कारण इनका रूप विकृत हो जाता है।[1] इन छन्दों की रचना को देखते हुए हर्मन याकोबी का कथन सत्य ही प्रतीत होता है।

रसाभिव्यक्ति

साहित्य की आत्मा रस है, बिना रस का साहित्य निरर्थक है। उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पाठक की रुचि के अनुसार ही रस की मुख्यता कही जाती है। लेकिन जब समस्त साहित्य का उद्देश्य ही मानव की आत्मा का विकास हो, उसका लक्ष्य उसे कर्म-बन्धनों से मुक्त करना हो तब उसमें शांत रस की अधिकता का होना अनिवार्य हो जाता है। अध्यात्म शास्त्र के ग्रन्थ इसी रस से ओतप्रोत हैं। इसी-लिए भारतवर्ष के मनीषियों ने शांत रस को रसराज कहा है। साधक को इसी रस में डूब जाने का उपदेश दिया गया। फिर उसे कितने ही परिषह या उपसर्ग क्यों न सहना पड़े उसका शांत गम्भीर हृदय का सागर कभी विक्षुब्ध नहीं होता। हिंसा से विरक्ति पैदा करने के लिए साधु के मन में उसके प्रति घृणा के भाव पैदा करना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने निम्न सूत्र में बीभत्स रस की पुष्टि की है— 'मंसाए — सोणियाए — हियपाए — पित्ताए — वासए — पिच्छाए— पुच्छाए —बालाए — सिंगाए—विसाणाए — दन्ताए — दाढाए — नहाए — अट्ठीए — अट्ठिमिंजाए — इत्यादि'[2]

---

१. सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, पृ० ७९।
२. आचाराङ्ग १. १. ६।

लेकिन जब आत्मा कर्म शत्रुओं से लड़ने के लिए तैयार होती है तब उसे वीर योद्धा के समान आचरण करना पड़ता है। वीर रस का उदाहरण भी इसमें मिलता है—

'तहागयं भिक्खुमणंतसंजयं अणेलिसं विन्नु चरंतमेसणं
तुदंति वायाहिं अभिद्दवं णरा सरेहि संगामगयं व कुंजरं'[1]

अर्थात्—संयमी भिक्षुको देखकर अनार्य व्यक्ति उसपर असभ्य वचनों और पत्थर आदि से इस इस प्रकार प्रहार करते हैं जिस प्रकार संग्राम में वीर पुरुष शत्रु के हाथी पर बाणों की वर्षा करते है।

●

१. आचारांग २. १६ (विमुक्ति अध्ययन)

४ आचारांग में समाज और संस्कृति

आचाराङ्गसूत्र मूलतः मुनिधर्म प्रदर्शक ग्रन्थ है। अतः इसमें सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करना एक कठिन कार्य है, फिर भी यत्र-तत्र बिखरे हुए अंशों का आश्रय लेकर तत्कालीन समाज का स्वरूप प्रदर्शित किया जा सकता है। इसमें साधु, गृहस्थ, जाति-कुल, पारस्परिक सहयोग व विरोध, प्रथा व मान्यताएँ, भोज, भोजन-पान, मकान, वस्त्राभूषण, विवाह, रोग व उपचार, मनोरंजन, व्यापार, युद्ध व शासन व्यवस्था और कलाएँ--इन विषयों पर उपलब्ध सामग्री के आश्रय से प्रकाश डाला जायेगा।

साधु समाज

सम्पूर्ण समाज दो भागों में विभाजित था—साधु और गृहस्थ। उस समय भारतभूमि में निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के साधुओं का निवास था।[1] प्रत्येक पंथ के साधुओं के पारस्परिक सम्बन्ध सुमधुर थ। एक दूसरे की सहायता करना वे आपस में अपना परम कर्त्तव्य समझते थे[2]। विशेषतः किसी साधु के रुग्ण हो जाने पर अन्य साधु उसकी वैयावृत्य, आहार-पानी आदि की व्यवस्था करते थे।[3] किन्तु आचाराङ्ग में अन्य मतावलम्बी साधुओं को अशन-वस्त्र देने या आमन्त्रित करने या उनकी वैयावृत्य करने का निषेध है।[4] उस समय जैन साधु भी अपने पास वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण (पीछी) रखते थे।[5] भिक्षापात्र तूम्बा, लकड़ी या मिट्टी का बनाया जाता था। इनके सिवाय कीमती पात्र भी बनाए जाते थे। लोहा, शीशा, रांगा, ताँबा, सोना, चांदी, आदि धातुओं या उनके मिश्रण के तथा हाथी दांत, पत्थर या चमड़े के पात्र

१. आचारांग १.१.२।
२. वही १.८.२।
३. वही २.१.१।
४. वही १.८.२।
५. वही १.६.२।

भी बनाये जाते थे जिनका ग्रहण जैन मुनि के लिए निषिद्ध था।[1] साधु को भोजन-पान, कम्बल, पाद-प्रोच्छन आदि गृहस्थ लोग प्रदान करते थे।[2] अनेक व्यक्ति प्रशंसा, मान या पूजा के लिए भी साधु बन जाते थे।[3] कई मुनि (साधु) हिंसा के कार्य में संलग्न हो जाते थे किन्तु उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था[4]। साधु समाज शिक्षा प्रसार का कार्य भी करता था। उनके पास कई शिष्य पढ़ते थे, तदनन्तर कई शिष्य दीक्षा ले लेते थे।[5] कई लोग ऐसे भी थे जो अपनी युवावस्था में वैराग्य धारण कर लेते थे और धर्म पर अडिग श्रद्धा रखते थे।[6] जहां एक ओर समाज में साधुओं का सम्मान होता था, वहां दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी थे जो उन्हें गाली देते थे, अपमानित करते थे और मारते थे।[7] अनार्य लोग साधुओं को अनेक प्रकार के कष्ट पहुंचाते थे, वे उन्हें स्वयं मारते थे या उनके ऊपर कुत्ते छोड़ देते थे।[8]

गृहस्थ

गृहस्थ आर्य और अनार्य इस प्रकार दो भागों में बटे हुए थे[9] ये पृथक्-पृथक् देशों में रहते थे। भगवान् महावीर ने अनार्य देश में भी भ्रमण किया था।[10] आर्य देश का समाज भी दो भागों में विभाजित था—उच्च कुल और निम्न कुल। इन दोनों में हीनाधिक की भावना कार्य करती थी।[11]

जाति व कुल

उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंश कुल, एसिअकुल, वैश्यकुल, गण्डककुल, कुट्टागकुल, ग्रामरक्षकुल और तन्तुवायकुल इन १२ प्रकार के कुलों के नाम आचाराङ्गसूत्र में आते है।[12] उक्त नामों को देखकर हम इन्हें दो भागों में विभाजित कर

---

१. आ० २.६.१।
२. वही १.८.२।
३. वही १.१.३।
४. वही १.१.३।
५. वही १.६.४।
६. वही १.८.३।
७. वही १.६.२।
८. वही १.९.३-४.
९. वही १.९.३।
१०. वही १.९.३।
११. वही १.२.३।
१२. वही २.१.२।

सकते हैं—परम्परागत कुल और कार्यगत कुल। इन दोनों विभाजनों के बावजूद इस निष्कर्ष पर तो पहुंचा जा सकता है कि लोगों का कुल उनके कार्य पर ही निर्भर करता था और दूसरी बात यह है कि लोग बहुधा अपनी कुल परम्परा के अनुसार ही कार्य किया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके कार्य के कारण ही उनके कुल के नाम निश्चित हो गए जैसे—ग्रामरक्षकुल और बोक्कस कुल। दूसरी बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि जिन जातियों का वर्णन पहले से चला आ रहा था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, उनमें से सिर्फ क्षत्रिय एवं वैश्य का नामोल्लेख यहां है। ब्राह्मण और शूद्र का नाम यहां नहीं आया। यदि राजन्य कुल में ब्राह्मण का समावेश भी कर लिया जावे, तो शूद्र कहां चले गए। वैसे चाण्डाल का नाम इस ग्रन्थ में अलग से आता है।[1] जैन धर्म में जाति व्यवस्था का वर्णन आता है लेकिन वह जाति जन्म से निश्चित नहीं की गई। कर्म से व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है, ऐसा उत्तराध्ययन में उल्लेख आता है। वैदिक धर्म में इसके प्रतिकूल शूद्रों को जन्म से ही धर्मकार्य के लिए अपात्र माना गया है। यदि कोई शूद्र यज्ञादि करता हुआ पकड़ा जावे तो वह दण्ड का भागी होता था।

जाति सम्बन्धी विश्लेषण निर्युक्तिकार ने किया है। यहां से ही हमें चार जातियों--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का पता चलता है। इतना ही नहीं, इनके पारस्परिक सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली सन्तान की भी जाति निश्चित की गई है।[2] इन्हीं श्लोकों का अर्थ करते हुए टीकाकार का निष्कर्ष भी द्रष्टव्य है। उनके कथनानुसार ४ प्रमुख जातियों से ९ उपजातियां तथा इन उपजातियों से ४ अन्य उपजातियां उत्पन्न होती है।

९ उपजातियां—

ब्राह्मण	पुरुष	वैश्य	स्त्री	= अम्बष्ठ
क्षत्रिय	,,	शूद्र	,,	= उग्र
ब्राह्मण	,,	शूद्र	,,	= निषाद/पाराशर वा
शूद्र	,,	वैश्य	,,	= अयोगवं

१. आचारांग १:९.४।

२. आचारांग निर्युक्ति गाथा १८ से २७ तक

वैश्य	पुरुष	क्षत्रिय	स्त्री	=	मागध
क्षत्रिय	,,	ब्राह्मण	,,	=	सूत
शूद्र	,,	क्षत्रिय	,,	=	क्षत्ता
वैश्य	,,	ब्राह्मण	,,	=	वैदेह
शूद्र	,,	ब्राह्मण	,,	=	चाण्डाल

उपजातियों से उत्पन्न ४ अन्य उपजातियाँ

उग्र	पुरुष	क्षत्त	स्त्री	स्त्री	श्वपाक
वैदेह	,,	क्षत्त	,,	=	वैणव
निषाद	,,	अम्बष्ठ	,,	=	बुक्कस
शूद्र	,,	शूद्र या निषाद	,,	=	कुक्कुरक

पारस्परिक सहयोग

उस युग में पारस्परिक सहयोग की भावना विद्यमान थी और लोग काम चलाने के लिए दूसरों को वस्तुएं उधार दे दिया करते थे।[1] समाज ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल एवं निराश्रित पशुओं के लिए भोजन-पानी की व्यवस्था करता था। लोग दूसरे यात्रियों की तृषा शान्त करने के लिए जगह-जगह पर प्याऊ बनाते थे और दिन में ही उनका उपयोग होता था।[2] लोगों ने सभा आदि कार्यक्रम के लिए अलग से स्थान बना रखे थे।[3]

प्रथा व मान्यतायें

धरोहर रखने की प्रथा उस समय विद्यमान थी लेकिन उस धरोहर को कई लोग स्वयं अपने उपयोग में ले लेते थे या दूसरों को दे देते थे। मालूम पड़ता है, ईमानदारी और विश्वास का कई लोगों में अत्यन्त अभाव था।[4] मृत संस्कार के लिए गांव के आस-पास ही श्मशान भूमि निश्चित कर दी गई थी।[5] संभवतः वहाँ ऐसे स्थान जरूर रखे गए होंगे जहाँ कोई ठहर सकता था क्योंकि साधु का श्मशान भूमि में ठहरने का उल्लेख मिलता है। मृतक पुरुष के

१. आचारांग १.८.२।
२. वही १.९.४।
३. वही १.९.२।
४. वही १.८.२।
५. वही १.८.२।

स्मरण में चैत्य, या स्तूप बनाने की प्रथा थी।[1] भोज प्रथा का प्रचार था—विवाह, उत्सव या मरण के अवसर पर भोज दिया जाता था।[2]

लोग इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, भूत, यक्ष, सर्प, स्तम्भ, चैत्य, वृक्ष, पर्वत, गुफा, कूप, तालाब, नदी, झील, समुद्र और खदान के सम्मान में कई प्रकार के उत्सव आयोजित करते थे। उत्सव के अवसर पर भी भोज देने की प्रथा थी।[3] आचारांग में इन उत्सवों के मनाने का सुन्दर चित्र खींचा गया है। इन उत्सवों में समाज के सब लोग एकत्रित होते थे—पुरुष, स्त्री, बच्चे और बूढ़े। इन अवसरों पर सुन्दर कपड़े पहने जाते थे। उत्सव में नाना प्रकार के मनोरंजक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते थे जैसे—संगीत, नृत्य, हास्य, नाटक, खेल आदि। उत्सव के बाद लोगों को प्रसाद स्वरूप भोज्य या पेय पदार्थ प्रदान किए जाते थे।[4]

भोज

भोज में परिवार और जाति वालों के सिवाय राजा को भी निमंत्रित किया जाता था। उसमें दास-दासी या कर्मचारी गण भी सम्मिलित होते थे। विशेष उल्लेखनीय यह है कि दूर रहने वाले सम्बन्धियों के यहां खाद्य पदार्थ भेजे जाते थे। भोज का समय प्रातःकाल अथवा सायंकाल होता था। सायंकाल शब्द का पूर्व प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि अधिकतर भोज सायंकाल ही होते होंगे।[5] चार प्रकार के भोज का वर्णन मिलता है। विवाह के बाद जब नववधू गृह प्रवेश करती थी उस समय वर पक्ष के लोग भोज देते थे (आहेणं)। विवाह में या बाद में वधू को लेने के लिए गए अतिथियों के सम्मान में भी भोज की प्रथा का आभास मिलता है (पहेणं)। घर में किसी व्यक्ति के मरने पर सह-वर्गियों को भोज दिया जाता था (हिंगोल)। इन तीन प्रकार के भोजों के अलावा लोग पारस्परिक सम्मेलन या गोष्ठी का सहभोज के साथ

---

१. आचारांग २.१०.१९।
२. वही २.१.१।
३. वही २.१.१।
४. वही २.१.१।
५. वही १.२.५।

आयोजन करते थे।[1] उत्सव के पहले या बाद में भोज दिया जाता था।[2] ऋतु प्रारम्भ होने पर कई प्रकार के भोज दिए जाते थे जिनमें श्रमण, ब्राह्मण तथा अतिथियों को निमन्त्रित किया जाता था।[3] भोज में गरिष्ठ पदार्थों की तैयारी की जाती थी जो पचने में कठिनाई उत्पन्न करते थे, उनसे रोग भी उत्पन्न हो जाते थे। इन अवसरों पर मद्यपान की भी प्रथा थी।[4] भोज में मांस और मछली भी तैयार होता था।[5] भोज में परोसने के लिए हंडी, कुम्भी, टोकरी और थैली का प्रयोग होता था।[6]

भोजन

अनार्य देश का भोजन रूखा-सूखा था।[7] उनका भोजन कोदों, वैरचूर्ण एवं कुलत्थ का होता था।[8] आचारांग में चौदह प्रकार के भोजन का वर्णन मिलता है—पिंड, लोय, क्षीर, दही, मक्खन, घृत, गुल, तेल, मधु, मद्य, मांस, सक्कुलि, पाणिय, सिखरिणी।[9] बारह प्रकार के पेय पदार्थों का प्रचलन था—आम का पना, कैरी, कैथा, बिजोरा, मुद्दिया, दाख, खजूर, नारियल, केला, बेर, आमला, इमली और लोग इनके रसपान किया करते थे।[10] आम, आमला, तालफल, सिन्नरी, शतद्रु, सल्लर, आदि फलों के खाने का अधिक रिवाज था। तेल के पुये भी अधिक खाये जाते थे[11] उड़द या धान से भोजन तैयार किया जाता था।[12] प्रथम श्रुतस्कंध के अध्याय ९ उद्देशक ४ की १३ वीं गाथा में वर्णित भोज्य पदार्थों का टीकाकार[13] ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है—मूंग और चना आदि की गीली दाल को पीसकर तेल में तलकर तैयार किए गए हींग और जीरे आदि से संस्कृत व्यञ्जनादि से युक्त एवं तक्र या छाछ में पड़े हुए पदार्थ इसका अर्थ दहीबड़ा, रायता

१. आचारांग २.१.१।
२. वही २.१.१।
३. वही २.१.१।
४. वही २.२.१।
५. वही २.१.१।
६. वही १.१.२।
७. वही १.९.३।
८. वही १.९.४।
९. वही २.१.४।
१०. वही २.१.८।
११. वही २.१.१.।
१२. वही १.९.४।
१३. वही १.०.४।

या करम्बा भी किया जा सकता है। लोगों को गर्म भोजन करने की आदत थी। अधिक गर्म भोजन ठंडा करने के लिए पंखा, पत्ता, सूपा, तालपत्र, शाखा, पक्षी की पूंछ, मोर पंख, कपड़ा हाथ या मुंह की वायु से सहायता लेना पड़ती थी।[1] बर्तनों में थाली, कटोरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[2] भोजन रखने के लिए ऊंचे स्थान निश्चित थे और इस के लिए नसैनी आदि का भी उपयोग करना पड़ता था।[3] पानी का उपयोग दो प्रकार से किया जाता था—अचित्त जल अर्थात् पानक एवं सचित्त जल।[4]

निवास

मनुष्यों के रहने के स्थानों का वर्णन निम्न प्रकार से पाया जाता है। **ग्राम और नगर**—जहाँ राज्य की तरफ से १८ प्रकार का कर लिया जाये उसे ग्राम कहते थे और जहाँ कोई कर न लिया जावे उसे नगर कहते हैं। **खेड़ा**—जिस आबादी के चारों तरफ मिट्टी का परकोटा हो उसे खेड़ या खेड़ा कहते थे। **कब्बड़**—(कर्वट) थोड़ी आबादी वाला गाँव कर्वट कहलाता था। **मडम्ब**—जिस गाँव से ढाई कोस की दूरी पर दूसरा गाँव हो उसे मडम्ब कहते थे। **पाहण**—(पत्तन) व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहाँ सब वस्तुएँ मिलती हों, पाहण कहलाता था। **द्रोणमुख**—समुद्र के किनारे की आबादी, जहाँ जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के साधन हों वह द्रोणमुख (बन्दरगाह) कहलाता था। **आगर**—(आकर) सोना-चाँदी निकालने की खान को आगर कहते थे। **आश्रम**—तपस्वी, संन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता था। **सन्निवेश**—जहाँ बड़े-बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हों, उसे सन्निवेश कहते थे। **निगम**—जहाँ अधिकतर व्यापार-वाणिज्य करने वाले महाजनों की आबादी हो उसे निगम कहते थे। **राजधानी**—जहाँ स्वयं राजा रहता हो, वह राजधानी कहलाती थी[5]। ग्रामों की रक्षा के लिए रक्षक रखे जाते थे, वे रात को जागरण करके घूमते रहते थे और उनके हाथ में शस्त्र रहते थे।[6] टीकाकार ने इनकी व्याख्या की है।

---

१. आचारांग २.१.१.७।
२. वही २.१.१.७।
३. वही २.१.७।
४. वही १.१.४।
५. वही १.८.६।
६. वही १.९.२।

मकान

पूर्वकाल में मकानों के दरवाजे छोटे रखे जाते थे लेकिन यह प्रथा बदल गई और लोगों ने उन छोटे दरवाजों के स्थान पर बड़े दरवाजे बनवाने शुरू किये।[1] मकान बनवाने की कला का विकास हो चुका था।[2] लोग जिन मकानों में रहते थे उन्हें वे स्वयं बनवाते थे तथा जीर्ण-शीर्ण होने पर मरम्मत कराते थे।[3] मकानों में कई दरवाजे व खिड़कियां होती थीं, मकान में प्रकाश आता रहे, इसलिए खिड़कियां रखी जाती थीं।[4] चार प्रकार के मकानों का वर्णन मिलता है—**मकान**—जहां गृहस्थ रहते हैं। **मठ**—मुनियों के लिए बनाए गए निवास स्थान। **आरामागार**—उद्यान में लोग अपने-अपने मकान बनाकर रखते थे जहां वे कभी-कभी विशेष ऋतु में जाकर रहते थे। **धर्मशाला**—जहां यात्रियों को निवासादि की सुविधा मिलती हो।[5] मकान स्वामित्व की दृष्टि से यह समाज दो भागों में विभक्त था—(१) मकान के स्वामी जो स्वयं रहते थे (२) मकान के किरायेदार[6]। मकान में पानी बहाने के लिए नाली भी बनाई जाती थी। दीवाल, खम्भे, मंजिल, कोठी, स्नानागार, शौचालय आदि शब्दों का उल्लेख यह प्रकट करता है कि मकानों में आधुनिक साज-सज्जा एवं समस्त सुविधाएं रखी जाती थीं।[7] लोग अपने-अपने घरों में चिटाई बिछाते थे। मकान की पुताई कराना, उसके फर्श की सतह मिलाना, चिकना करना, सुगन्धित पदार्थों से अपने कमरे को सुगन्धित करना यह लोगों का काम था।[8] मकान में या बाहर थूकने के लिए बर्तन रखे जाते थे।[9] मालूम पड़ता है—स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था।

वस्त्राभूषण

ऊन, रेशम, पटसन, तालपत्र, कपास या अर्कतुला से कपड़े बनाये

१. आचारांग २.१.१.।
२. वही १.८.२।
३. वही १.८.२।
४. वही २.१.१.५।
५. वही २.२.२।
६. वही २.२.३।
७. वही २.१.१.५।
८. वही २.२.१।
९. वही २.१.१.६।

जाते थे।[1] लोग कपड़ों को धोते थे, उन पर रंग चढ़ाते थे।[2] उनकी धूल साफ करते थे और उन्हें सुगन्धित पदार्थों से युक्त करते थे। फर के कपड़े सबसे महंगे होते थे। फर काले-नीले और पीले रंग के हरिणों का होता था। शेर के चमड़े का प्रयोग भी कपड़े के रूप में होता था। कपड़े पर सोने के कढ़ाई का भी काम होता था, लेकिन सस्ता बनाने के लिए सोने के समान चमकने वाले अन्य धागों का भी प्रयोग होता था।[3] स्त्रियां अपने गले में हार या सोने की सांकल भी पहनती थीं।[4] मणि, मोती, सोना-चांदी इनसे आभूषण बनाये जाते थे। गले का हार, हाथों के दस्तबन्द, कानों के आभूषणों का वर्णन आता है।[5]

विवाह

विवाह का स्पष्ट निर्देश तो नहीं है लेकिन विवाह के समय भोज के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि विवाह-कार्य अत्यन्त उत्साह एवं समारोह के साथ किया जाता था। इस अवसर पर सब सम्बन्धी एकत्रित होते थे जिन्हें दोनों पक्षों से सम्मान मिलता था। सम्बन्धियों के सिवाय अन्य नागरिकों को भी आमन्त्रण दिया जाता था ऐसा आभास मिलता है।

घर में वृद्ध व्यक्ति की वैयक्तिक स्थिति अच्छी नहीं थी, क्योंकि वह काम करने के योग्य नहीं रहता था। हंसी, क्रीड़ा, रति और विभूषा के योग्य भी नहीं था, इसलिए घर के लोग उसका तिरस्कार करते थे और वह भी उन लोगों को भला-बुरा कहता था।[6] धनोपार्जन के मुख्य उद्देश्य थे—अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन करना। भोग के उपरान्त बचे हुए धन का संग्रह करना उचित प्रतीत होता है लेकिन कई लोग ऐसे भी होते थे जो भोग में कृपणता करके धन संग्रह की लालसा रखते थे।[7] मनुष्य खेत और मकान में ममत्वभाव रखते थे।[8] कई व्यक्ति मणि, कुण्डल और स्वर्ण

१. आचारांग २.५.१।
२. वही १.८.४।
३. वही २.५.१।
४. वही २.२.१३।
५. वही २.२.१।
६. वही १.२.१।
७. वही १.२.१।
८. वही १.२.२।

का संग्रह करते थे जिनका आभूषणों के रूप में प्रयोग किया जाता था।[1] पिता की सम्पत्ति का बटवारा होता था।[2] उस समय कई घरों में सेवाभाव की अत्यन्त कमी थी क्योंकि रोग उत्पन्न होने पर उसके परिवार के लोग ही उसका तिरस्कार करने लगते थे।[3]

रोग व उपचार :

आचाराङ्गसूत्र में १६ प्रकार के रोगों का वर्णन आता है। गण्ड-माल, कोढ़, क्षय, मृगी, जड़ (लकवा) उदररोग, शोथ, भस्मक, कम्पन, पीठसर्पी (इस रोग के रोगी काठ की चिरैया बनाकर उसके सहारे चला करते थे, ये एक प्रकार के पंगु कहलाते हैं) श्लीपद (इस रोग में रोगी का पैर हाथी के पैर जैसा स्थूल हो जाता है), मधुप्रमेह, काना, कुणिया, कुबड़ा और गूँगापन भी रोगों में गिनाए गए हैं जबकि इनका सम्बन्ध अङ्गभङ्ग से है। संभव है उस समय किसी औषधि विशेष या अन्य प्रयोग से ये दूर किए जाते रहे हों, जिससे इन्हें रोगों के अन्तर्गत लिया है।[4] किसी व्यक्ति के रुग्ण हो जाने पर चिकित्सा की व्यवस्था गांव में थी। चिकित्सा के रूप में जुलाब, वमन, तैलमर्दन, स्नान, हाथ-पैर का दबाना, दातन, काथा, लोध्र-वर्णक, चूर्ण या पद्मक का लेप आदि थे।[5] किसी रोग की उत्पत्ति के समय उसका निवारण न्यूनोदर से भी किया जाता था। मालूम पड़ता है कि प्राकृतिक उपचार से लोग रोग मुक्त हो जाते थे।[6] टीकाकार ने इन रोगों को विस्तार से समझाया है।[7]

मनोरंजन

गांव व नगर के पास ऐसे स्थान होते थे जहां मनोरंजन के लिए भैंसे या बैल का द्वन्द्वयुद्ध कराया जाता था।।[8] इसके लिए कथा, नृत्य, नाटक व संगीत के विविध कार्यक्रम रखे जाते थे।[9]

---

१. आचारांग १.२.३।
२. वही १.२.३।
३. वही १.२.४।
४. वही १.६.१।
५. वही १.९.४।
६. वही १.९.४।
७. वही २.१.१.७।
८. वही २.२.११।
९. वही १.९.१; २.२.११

संगीत कला का उपयोग भी मनोरंजन के लिए होता था। नृत्य एवं गान के सिवाय तंतुवाद्य, तालवाद्य और सुषिर वाद्य का वर्णन आचाराङ्गसूत्र में आता है।[1] नाना प्रकार के वाद्यों का प्रयोग किया जाता था जिनमें मृदंग, नन्दीमृदंग, झल्लरी, वीणा, पणक, विपंची, मशकवाद्य, तूणक, तम्बूरा, डंकुण, कंसताल लत्तिय, गोधिक, शंख, बांसुरी, खरमुखी और पिरिपिरि के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।[2] जब लोग समूह में एकत्रित होते थे तब कई प्रकार के मनोरंजन किए जाते थे जिनमें प्रायः सब लोग भाग लेते थे। उनके शरीर में आपस में टकराते थे। इस वर्णन से ऐसा मालूम पड़ता है कि लोगों को सामूहिक नृत्य से विशेष रुचि थी। दण्डयुद्ध और दृष्टियुद्ध का वर्णन मिलता है। मालूम पड़ता है कि शक्ति संवर्धनार्थ या मनोरंजनार्थ लोग ऐसे आयोजन करते रहे होंगे जिन्हें देखने के लिए अन्य बहुत से व्यक्ति एकत्रित होते थे।[3]

शिकार

मनुष्य जीवों की हत्या प्रयोजन पूर्वक निष्प्रयोजन एवं मनोरंजनार्थ किया करते थे। त्रस जीवों का वध सोद्देश्य भी होता था। उसके उद्देश्य थे— मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, हाथीदांत, दाढ़, नख, स्नायु व हड्डी की प्राप्ति।[4] यह ठीक है कि उस समय बहुत से लोग मांसाहार के लिए शिकार खेलना आवश्यक समझते थे परन्तु औषधि, शृंगार एवं अपनी सुख सुविधा के लिए भी मनुष्य शिकार किया करता था। आचारांग की दीपिका में शिकार के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है।

व्यापार

व्यक्ति अपने व्यापार में मनुष्य और पशु दोनों को सेवक के रूप में रखता था जिनकी सहायता से वह धन संग्रह करता था।[5] भोजन, पान, पात्र, कम्बल आदि चीजों की खरीद का वर्णन मिलता है।[6]

---

१. आचारांग २.१.१।
२. वही २.११।
३. वही १.९.१।
४. वही १.१.६।
५. वही १.२.३।
६. वही १.८.२।

एक स्थान पर खोटे सिक्के का उदाहरण दिया गया है।[1] मालूम पड़ता है कि वस्तुओं की खरीद के लिए सिक्कों का प्रयोग किया जाता था, लेकिन कई लोग ऐसे भी थे जो खोटे सिक्के तैयार करते थे। कई दुकानें स्थायी रहती थीं और कई अस्थायी होती थी, जो सप्ताह में एक बार या सिर्फ दिन में खुली रहती थी रात्रि में उन्हें खाली कर दिया जाता था।[2]

युद्ध व शासन

राजा सम्पत्ति छीन लेता था। संभव है कोई विजेता राजा धनवानों से धन छीनता हो अथवा किसी अपराध की सजा इस रूप में दी जाती हो।[3] युद्ध में गज सेना का उपयोग होता था।[4] रणभूमि में जिस समय योद्धा जाता था उस समय अपने शरीर की रक्षा के लिए कवच आदि धारण कर लेता था।[5] युद्ध में तीर कमान का प्रयोग किया जाता था।[6] दण्ड युद्ध और मुष्टियुद्ध का उल्लेख मिलता है।[7] दो राज्यों के मुठभेड़ का निर्देश भी इसमें मिलता है।

अपराध व दण्ड

चोर मकानों में सेंध लगाकर भी चोरी करते थे।[8] वे रात्रि में यहां-वहां भ्रमण करते रहते थे।[9] लोग दूसरों की सम्पत्ति चुरा लेते थे।[10] सजा के रूप में शरीर के अंगों के छेदन-भेदन की प्रथा थी।[11]

कला

अनेक क्षेत्रों में कला का विकास हो चुका था। संगीत कला से मानव समाज का मनोरंजन होता था। लोग अनेकों प्रकार के आभूषण बनाने लगे थे, सोने-चांदी के काम का अधिक प्रसार हो गया

---

१. आचारांग २.१८।
२. वही १.९.२।
३. वही १.२.३-४।
४. वही १.९.३।
५. वही १.९.३-१३।
६. वही १.१.९।
७. वही १.९.१।
८. वही २.१.१।
९. वही १.९.२।
१०. वही १.२३।
११. वही १.१.९।

था।[1] साड़ियों में कई प्रकार का काम किया जाता था।[2] मकान बनाने की कला का भी विकास हो चुका था।[3] इनके सिवाय लकड़ी के कई प्रकार के खिलौने बनाए जाते थे। अन्य वस्तुओं के भी खिलौने तैयार होते थे। उन्हें कई प्रकार से सजाया जाता था। मणि, दांत या पत्ते पर भिन्न-भिन्न रंग की कारीगरी की जाती थी।[4] इस वर्णन से ज्ञात होता है कि गुड्डे-गुड्डियां बनाने के लिए पहले उनके अंग बनाए जाते थे फिर उन्हें जोड़ दिया जाता था। संभवतः इन कलापूर्ण कृतियों के प्रदर्शन के लिए कोई स्थान या समय निश्चित किया जाता रहा हो या इनके लिए कोई प्रदर्शनों का आयोजन होता रहा हो।

●

१. आचारांग २.१.१-७।
२. वही २.२.१।
३. वही १.८.२।
४. वही २.२.१२।

५ | आचारांग में शासन-व्यवस्था

भगवान् महावीर का युग प्रजातन्त्र और राजतन्त्र के सहअस्तित्व का युग था। उस समय अनेक शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं। सारा देश अनेक इकाइयों में विभक्त था। प्रत्येक इकाई का अलग-अलग राजा होता था और कहीं-कहीं अनेक इकाइयां एक दूसरे में मिलकर संयुक्त राज्य में बदल जाती थीं। इन विभक्त इकाइयों के कारण अनेक प्रणालियों के अनेक परिवर्तित व परिवर्धित रूप सामने आए और समय-समय पर उनके सफल प्रयोग भी हुये। आचारांग में निम्न शासन प्रणालियों के उल्लेख[1] मिलते है—

(१) अराजकराज्य
(२) गणराज्य
(३) यौवराज्य
(४) द्वैराज्य
(५) वैराज्य
(६) विरुद्धराज्य

अराजक राज्य

यह एक पारिभाषिक शब्द है जो एक विशिष्ट शासन प्रणाली की ओर संकेत करता है। इसका अर्थ व्यवस्थाहीन राज्य नहीं है। इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—बिना शासक वाली शासन प्रणाली। यहाँ शासक का अर्थ अभिषेक पूर्वक स्वीकृत नेता से है। जैन टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार से करते हैं कि प्राक्तन राजा के मर जाने पर जब

१. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अन्तरा से अरायाणि वा, गणरायाणि वा, जुवरायाणि वा, दोरज्जाणि वा, वेरज्जाणि वा, विरुद्धरज्जाणि वा सति लाढे विहारार, संथरमाणेहिं, णो विहार वत्तियाए पवज्जेज्ज गमणाए। आचारांग २।३।१।०

तक राजा और युवराज इन दोनों का अभिषेक नहीं हो जाता तब तक वह राज्य अराजक राज्य कहलाता है। महाभारत और दीर्घनिकाय में राज्योत्पत्ति की पूर्वावस्था को अराजकता की अवस्था कहा गया है। इस सम्बन्ध में दोनों ग्रन्थों में साम्यता है। उनके कथनानुसार मानवसमाज की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सुख और शांति का स्वर्णकाल सतयुग रहा। लोग स्वभावतः धार्मिक होते थे और सरकार तथा कानून के बिना ही शांति और सदाचार पूर्वक रहते थे। अथर्ववेद में लिखा है –"प्रारंभ में यह (समस्त जनपद या राष्ट्र) विराट (राजा से रहित) था। उसे देखकर लोग भयभीत हुए कि क्या यह ऐसा ही रहेगा?"[1] मनुस्मृति[2] में अराजक अवस्था की चर्चा इस प्रकार की गई है कि इस अराजक लोक में सब लोग भय से चारों ओर भागने लगे तब इसकी रचना के लिए परमेश्वर ने राजा की सृष्टि की। महाभारत में लिखा है कि 'हे नरशार्दूल, सुनो किस प्रकार सतयुग में राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दाण्डिक। धर्म से ही सब प्रजा परस्पर रक्षा करती थी।'[3]

उक्त प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि अराजक राज्य कल्पना मात्र नहीं, उसमें यथार्थता है। इस प्रणाली का आदर्श यह था कि केवल कानून और धर्म शास्त्र ही शास्ता के रूप में रहें और कोई भी व्यक्ति-विशेष को शासक न माना जावे। यह आदर्शवादी प्रणाली थी। भारतीय जनता के आध्यात्मिक संस्कारों के आधार पर इसे अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यह प्रजातन्त्र प्रणाली की चरम सीमा थी। आत्मानुशासन का एक नमूना था। इसका आधार था पारस्परिक विश्वास। यदि कोई विश्वासघात या अपराध कर लेता तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता। यही एक मात्र दण्ड व्यवस्था थी, परन्तु व्यक्तिवादी भावनाओं ने विश्वास को पीछे कर दिया। अतः

---

१. विराट् वा इदमग्र आसीत्।
तस्या जातायां सर्वमबिभेदेयमेवेदं भविष्यति॥
—अथर्ववेद काण्ड ८। सूक्त १०/१

२. मनुस्मृति ७। ४-५

३. महाभारत, शान्तिः अ० ५९, १३-१४

यह शासन अधिक दिनों तक न चल सका। वहाँ ऐसा भी उल्लेख है कि जब यह प्रणाली विफल होने लगी तब एकतन्त्र या राज्यतन्त्र प्रणाली का उदय हुआ। एकतन्त्रवादियों ने इसका इन शब्दों में तिरस्कार किया—अराजक राज्य से खराब और कोई राज्य नहीं हो सकता। यदि कोई बलवान् नागरिक कानून या धर्म का पालन करता रहे, तब तो कुशल ही है, परन्तु यदि वह विद्रोही हो जावे तो वह सब कुछ निःशेष या नष्ट भी कर सकता है।[1]

युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह ने कहा—'अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट होती है। जैसे जल में बड़ी मछली छोटी को खा जाती है।'[2] कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि मात्स्य न्याय से अभिभूत प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया।[3]

अराजक राज्य के आधार

अराजक राज्य के दो मुख्य आधार हैं—

(१) व्यक्ति की महत्ता (२) सामाजिक समझौते के आधार पर नियमों का गठन।

अराजक राज्य की प्रजा स्वयं अपने लिए नियमों का गठन करती है और स्वेच्छापूर्वक उनको पालन करने का संकल्प लेती है। नियम व्यक्तियों के लिए होते थे, व्यक्ति नियमों के लिए नहीं। व्यक्ति के सामने राज्य या व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं था। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखते हुए सामाजिक नियमों का संगठन कर एक अनुपम आदर्श उपस्थित किया था।

अराजक राज्य की विफलता

अराजक राज्य की विफलता के भी दो कारण थे—(१) नियन्त्रण हीनता और (२) व्यक्तिवादी महत्ता। इस प्रणाली की सबसे बड़ी दुर्बलता थी, दण्ड और दण्ड देने वाली शक्ति का अभाव। लोग

१. महाभारत शा० प० ६७ व ७८।

२. वही अ० ५९। ९५-११०

३. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुर्वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।
अर्थशास्त्र अधि १. अ० १३. ६।

मनमानी करने लगे--आपसी विश्वास टूट गया। कुछ व्यक्ति नियमों की अवहेलना करने लगे। स्वच्छन्दता बढ़ी और अनुशासनहीनता ने उनमें अहं पैदा कर दिया। वे अब व्यक्तिगत शक्ति को बढ़ाने लगे। सारा समाज विभिन्न इकाइयों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न होने लगा। एकता के अभाव में प्रतिरोधात्मक शक्ति का ह्रास हुआ और व्यवस्था का ढांचा जीर्ण-शीर्ण हो गया। संभवतः इसी कारण से महाभारत में यह स्पष्ट उल्लेख है कि अराजक राज्य को सहज ही जीता जा सकता है। जब दूसरे शक्तिशाली शत्रु अराजक राज्य पर आक्रमण करते हैं तो इसकी प्रजा न झुक सकने वाली लकड़ी के समान टूट जाती है। जब लोग चिरकालीन अराजकता से ऊब गए तब उन्होंने आपस में एक इकरार या सहमति की कि समाज-कंटकों को समाज से बाहर निकाल दिया जावे।

अराजक राज्य की शासन-प्रणाली का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं होता। जैन चूर्णिकार या टीकाकार केवल शब्द की परिभाषा देकर ही मौन हो जाते हैं। आचाराङ्गसूत्र के चूर्णिकार इसकी व्याख्या नहीं करते। इससे यह अनुमान किया जाता है कि यह प्रणाली उस समय प्रचलित न थी और सहज ज्ञात न होने के कारण ही उसकी विस्तृत व्याख्या नहीं हुई। महाभारत में अराजक राज्य की रूपरेखा मिलती है। वहां यह उल्लेख है कि अराजक राज्य के लोगों ने समस्त वर्णों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए ये नियम निश्चित किए थे कि जो कटुभाषी, उद्दण्ड, परस्त्रीगामी तथा परधनहारी होंगे वे त्याज्य समझे जायेंगे। अराजक राज्य की सीमा छोटी रही होगी, ऐसा लगता है। बहुत विस्तीर्ण राज्य में यह व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती थी। आज की भाषा में इसे हम सत्ताहीन शासन प्रणाली कह सकते हैं। आचार्य विनोबा भावे और साम्यवादियों का अन्ततः ध्येय यही है कि सत्ताहीन राज्य की भूमिका तैयार की जावे। उन्हें इसी में जनकल्याण दिखाई देता है।

गणराज्य

यह एक विशुद्ध शासन प्रणाली थी जो कि मतदान द्वारा योग्य व्यक्तियों को देश की बागडोर सौंपकर उन्हें लोगों के योगक्षेम के लिए

सतत प्रेरित करती थी। गण का अर्थ है समूह, इसलिए गणराज्य का अर्थ होगा समूह का राज्य या बहुत से लोगों के द्वारा सञ्चालित राज्य। डा० फ्लीट, मोनियर विलियम आदि पाश्चात्य विद्वानों ने गण शब्द का अर्थ (Tribe) किया है परन्तु यह अर्थ नितान्त भ्रामक है क्योंकि गण कृत्रिम होते थे और (Tribe) स्वाभाविक।

महाभारत में गणराज्य सभातन्त्र राज्य के अर्थ में आया है और अमरकोश में गण का अर्थ सहवासियों की सभा बताया गया है। पाणिनि ने भी संघ को गण अर्थवाची बतलाया है। जातक में एक दूसरे शब्दों के साथ गण बन्धन ऐसा शब्द आया है। इसका वास्तविक अभिप्राय है कि लोगों का एक संस्था या साधारण सभा, समिति के रूप में मिलकर एक हो जाना। स्वयं बन्धन शब्द से भी यह सिद्ध होता है कि गण का संगठन कृत्रिम होता था। जैन टीकाकारों ने गणराज्य का अर्थ किया है—प्रयोजन उत्पन्न होने पर बहुत सारे व्यक्ति गण बनाकर अपना एक नेता निर्वाचित कर लेते थे; वह गणराज्य कहलाता था और उसके द्वारा संचालित शासन को गणराज्य कहा जाता था। इस प्रकार के लिच्छवी, वज्जी, मल्ल आदि १८ गणराज्य थे। शुक्रनीति में मन्त्रिमण्डल को गण कहा है। महाभारत में पाँच गणराज्यों का भी उल्लेख है। भीष्म-पितामह ने इन गणों की व्याख्या की है—'गण के लोगों को आपस में मेल रखना चाहिए। बड़े आदमियों को तुरन्त ही फूट का अन्त कर देना चाहिए। शासकों पर भरोसा करना चाहिए, खजाना भरा पूरा रखना चाहिए और सबसे बड़ी बात यह है कि एकता रखनी चाहिए'। अराजक राज्य के विफल हो जाने पर नृपतन्त्र के साथ ही साथ अनेक क्षेत्रों में गणराज्य का अस्तित्व भी सुदृढ़ होने लगा। बुद्ध के समय उत्तर भारत के वणिक् दक्षिण भारत में गए थे। उन्होंने दक्षिण के राजा को उपहार भेंट किये। राजा ने पूछा– हे वणिकों, वहाँ कौन राजा है—तब उन्होंने कहा—महाराज कुछ देश में तो गण का शासन है और कुछ देशों में राजाओं का।

गणराज्यों में मानवीय समानता का सिद्धान्त प्रचलित था। कुलों के आधार पर शासकों का चुनाव नहीं होता था। जो व्यक्ति

वीर, बुद्धिमान्, धैर्यवान् और पूर्ण शक्ति-सम्पन्न होता था, वही शासक बन सकता था। शासक जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था। विभिन्न प्रशासकीय पदों पर योग्यता या क्षमता के अनुसार स्थान प्राप्त करने का अधिकारी था। गणराज्य में न तो राजा विशेष का अस्तित्व होता है और न तो शासक वर्ग की प्रधानता ही होती है। वहाँ राज्य का प्रत्येक व्यक्ति राजा होता है। ललितविस्तर के अनुसार लिच्छिवियों में छोटे बड़े का भेद नहीं था। सब—मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ ऐसा समझते थे। महाभारत में गणों की समृद्धि के कुछ उल्लेख मिलते हैं :

(१) गणों के लोग धनी, वीर, शास्त्रों के ज्ञाता तथा शास्त्रों में निपुण होते थे। वे निःसहायों की सहायता करते थे।

(२) गण के लोग सदैव उन अधिकारियों का मान करते हैं जो बुद्धिमान् हैं, वीर हैं, उत्साही हैं और कर्तव्यों का पालन करते हैं।

गण कुल से बड़ा और दो या अधिक कुलों का भी होता था, जैसे अन्धक-वृष्णी संघ अन्धकों और वृष्णियों का था। पाणिनि और महाभारतकार ने गणों की चर्चा की है। महाभारत में बताया गया है कि अर्जुन ने सात पर्वतवासी दस्युगणों को जीता।[1] महाभारत में यह कथानक भी उपलब्ध है कि इनमें मन्त्रणा नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें बहुत लोग होते हैं और इसीलिए भेद से इनका विनाश होता है। कौटिल्य को भी इनकी इस दुर्बलता का ज्ञान अवश्य होगा, नहीं तो संघ का लाभ मित्र और सेना के लाभ से अधिक मानकर भी वे यह न कहते कि यदि संघ प्रतिकूल हो तो भेद और दण्ड द्वारा उनका उपयोग करें। जब मगध के सिंहासन पर अजातशत्रु था, तब उसने गौतम बुद्ध से पूछा—वज्जी संघ को हम अपने आधीन कैसे करें। बुद्ध ने उत्तर दिया—जब तक वज्जी समय-समय पर पूरी सभाएँ करते रहेंगे, मेल से मिलेंगे और मेल से ही बैठेंगे, उठेंगे तथा मेल से ही अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते रहेंगे, जब तक वे ऐसा नया

---

१. गणान् उत्सव संकेतान् दस्यून पर्वत वासिनः। अजयत सप्त पाण्डवः। उद्धृत हिन्दू राज्य शास्त्र पृ० १६५.

काम न करेंगे जो पहले से नहीं चला आता और जो पहले से चला आता है उसे बन्द न करेंगे, तब तक वज्जियों की अवनति की अपेक्षा उन्नति की ही आशा है। वज्जी केवल धन से सन्तुष्ट किए जा सकेंगे और भेद से उनका संघ नष्ट किया जा सकेगा।

कौटिल्य ने दो प्रकार के गणराज्यों का उल्लेख किया है—(१) राजशब्दोपजीवी (२) वार्ताशस्त्रोपजीवी।

प्रथम कोटि के गणों से यह तात्पर्य है कि अध्यक्ष को राजा कहा जाता था और निर्वाचन करने वाले भी स्वयं को राजा कहते थे। कौटिल्य ने इस कोटि में लिच्छिवी, पांचाल, मल्ल आदि गणों का उल्लेख किया है। द्वितीय कोटि के गणराज्य नागरिकों के कृषिबल तथा सैनिक निपुणता को उनके प्रशासन में स्थान का आधार मानकर चलते थे। कम्बोज तथा सुराष्ट्र का इस कोटि के गणों में उल्लेख हुआ है। आचारांग में गणराज्य की शासन प्रणाली का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं है।

यौवराज्य

पिता के जीवित रहते हुए जो राजकुमार राज्य का भार संभालने के योग्य हो जाता है उसे युवराज कहते हैं। युवराज द्वारा अधिष्ठित राज्य को यौवराज्य कहा जाता है। बृहत्कल्पसूत्र के टीकाकार ने यौवराज्य का अर्थ करते हुए लिखा है—पूर्व नृप द्वारा अभिषिक्त युवराज राज्याधिष्ठित हो जाने पर भी जब तक वह अपने उत्तरवर्ती युवराज का अभिषेक नहीं कर देता तब तक वह राज्य यौवराज्य कहलाता है। आधुनिक लेखकों ने इसका समाधान प्रस्तुत किया है। युवराज की छोटी अवस्था में ही राजा की मृत्यु हो जाने पर राज्य संचालन का उत्तरदायित्व संरक्षक परिषद् के अधीन रहता था। जब तक युवराज वयस्क नहीं हो जाता तब तक यही परिषद् राज्य कार्य का संचालन करती थी और इस काल में वह राज्य युवराज्य का राज्य कहलाता था। इसकी पुष्टि महाराज खारवेल के उदाहरण से हो जाती है जिसके अभिषेक से पूर्व शासन को 'यौवराजं प्रशासितम्' कहा गया है। इन दोनों विवेचनों में कुछ अन्तर अवश्य

है परन्तु तात्पर्य की भाषा में दोनों एक ही हैं। राज्याभिषेक के पूर्व युवराज भी एक मन्त्री होता था जो राजा की सहायता करता था। उसकी विशेष मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था। वह साधारणतया राजवंश का ही होता था।

द्वैराज्य

इसका अभिप्राय है दो राजाओं का शासन। एक साथ दो प्रभु-सत्ताओं का शासन कुछ अटपटा सा लगता है, परन्तु भारत में ऐसे राज्य थे, इसके पुष्ट प्रमाण मिले हैं। महाभारत में आया है[1] कि अवन्ती में विन्द और अनुविन्द दो राजाओं द्वारा संयुक्त रूप से शासन किया जाता था। इन्हें दिग्विजय करते हुए सहदेव ने हराया था। सिकन्दर के भारतीय अभियान के समय पाटलराज्य (सिंध) में पृथक्-पृथक् वंशों के दो राजाओं के शासन की सूचना मिलती है।[2] छठी-सातवीं शताब्दी में नेपाल में लिच्छिवी तथा ठाकुरी वंश एक साथ ही शासन करते थे। ये एक राजधानी के २ स्थानों से आज्ञाएँ प्रचारित करते थे जिनकी तिथियों से जाना जाता है कि दोनों घराने एक साथ शासन करते थे। आश्चर्य की तो बात यह है कि दोनों घरानों में कोई रक्त सम्बन्ध नहीं था फिर भी दोनों एक ही राज्य के राजा थे। कौटिल्य ने द्वैराज्य के अस्तित्व को पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के मध्य ही सम्भव माना है[3] परन्तु यह उचित मालूम नहीं पड़ता क्योंकि इतिहास में इसके विरुद्ध प्रमाण उपलब्ध हैं। इस शासन प्रणाली में न तो वंशानुक्रम से ही कोई राजा चुना जाता था और न अनेक व्यक्ति ही शासन-भार संभालते थे। आधुनिक शब्दों में हम इसे दो दलों का राज्य कह सकते हैं (Coalition of two different parties)। एकान्ततः यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रजातन्त्र प्रणाली ही थी। नृपतन्त्र और प्रजातन्त्र का यह सुन्दर समन्वय था। कभी-कभी दोनों अध्यक्ष किसी राजवंश के ही होते थे और कभी-कभी जनता से चुन लिए जाते थे।

---

१. महाभारत सभापर्व अ० ३१

२. इन्वेशन आफ इण्डिया बाइ एलेक्जेंडर

३. अर्थशास्त्र ८।२

यह आशंका सहज उत्पन्न होती है कि एक ही राज्य में दो प्रभु-सत्ताओं में राज्य व्यवस्था सुचारु रूप से कैसे चल सकती थी। यहाँ यह समाधान निकालना पड़ता है कि इनकी शासन प्रणाली का आधार शक्ति विभाजन था। राज्य के कतिपय सामान्य कार्यों में वे संयुक्त रूप से कार्य करते रहे होंगे और विशिष्ट कार्यों को उन्होंने आपस में बाँट लिया होगा जिसके विभाग में जो आता था वह उसका पूर्ण सतर्कता पूर्वक निर्वाह करता था। यह प्रणाली निर्दोष नहीं थी। यह एक राजनीतिक चाल के रूप में कार्यान्वित होती थी। यह प्रणाली भारतीय मस्तिष्क की अनोखी सूझ थी, अन्यत्र यह नहीं पाई जाती। द्वैशासन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'अन्धक वृष्णि' का प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार यादव कुक्कर और भोज आदि सभी अन्धक वृष्णि संघ के रूप में संगठित थे।[1] वर्गों के नेताओं के रूप में आहुक, अक्रूर, प्रद्युम्न, संकर्षण के नामों का उल्लेख हुआ है। प्रभु उग्रसेन अंधकों का नेता था और कृष्ण वृष्णियों के नेता थे। राज्य सञ्चालन में दोनों का समान अधिकार रहता था। ये नेता प्रायः परिवर्तित होते थे। कहीं वासुदेव और उग्रसेन का, कहीं अक्रूर और वासुदेव का तथा कहीं शिवि और वासुदेव का उल्लेख मिलता है।

वैराज्य

जैन टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं।[2] उनमें वैराज्य का अर्थ 'राजा विहीन शासन प्रणाली ही' आधुनिक विद्वानों का अभिमत रहा है।[3] साधनों के अभाव में वैराज्य शासन की संचालन-विधि और विधि विधान की स्पष्ट व्यवस्था नहीं की जा सकती। अराजक राज्य से यह प्रणाली भिन्न थी और गणराज्य की व्यवस्था को लेकर

---

१. शान्तिपर्व : ८१।२९

२. हिमाचल की तराई और उत्तर बिहार के कुछ राज्यों के रूप में जो वैराज्य राज्य थे, वे विराट् (बिना राजा के) थे, इसलिए जिन राज्यों में राजा न हो, उसे ही वैराज्य समझना चाहिए—हिन्दु राज्य शास्त्र : पृ० १७८

३. अर्थशास्त्र अधि० ८ अ० २।६ से १२ तक।

चलती थी ऐसी सम्भावना की जा सकती है। इसमें कोई भी व्यक्ति विशेष राज्य का उत्तरदायी नहीं माना जाता था। परन्तु समस्त प्रजा को राज्य संचालन का अधिकार था। किसी व्यक्ति विशेष का राज्य के पद के लिए अभिषेक होता था। जहाँ समस्त प्रजा का राज्य हो वहाँ योगक्षेम असम्भव हो जाता है। सभी उत्तरदायी माने जाने के कारण कोई भी उत्तरदायी नहीं होता। देश की दुर्दशा हो जाती है। सम्भवतः इसीलिए कौटिल्य ने उसे द्वैराज्य से निकृष्ट मानकर तिरस्कृत किया है। उसका मत है—'जहाँ वैराज्य शासन प्रणाली होती है, वहाँ किसी व्यक्ति के मन में निजत्व का भाव उत्पन्न नहीं होता। वहाँ राजनैतिक संगठन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति देश को बेच सकता है। कोई अपने आपको उत्तरदायी नहीं समझता और लोग उदासीन हो राज्य छोड़कर चले जाते हैं।'[1] ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार उत्तर कुरु और उत्तर मद्र नामक हिमालय प्रदेशों में यह व्यवस्था प्रचलित थी।[2] यजुर्वेद[3] के कथनानुसार वैराज्य विधान दक्षिण भारत में भी प्रचलित था।

विरुद्ध राज्य

जैन टीकाकारों ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि जहाँ दो राज्यों में एक दूसरे के राज्य में गमनागमन निषिद्ध हो—उसे विरुद्ध राज्य कहा जाता है। इस कथन से यह सहज संभाव्य है कि वैराज्य और विरुद्ध राज्य में एक सी शासन प्रणाली रही हो। आधुनिक लेखक इसे विभिन्न दलीय प्रशासन पद्धति मानते हैं। राज्य सत्ता व्यक्ति विशेष के हाथ में न होकर प्रजा के प्रतिनिधि विभिन्न वर्गों के नेताओं के हाथ में होती थी। विभिन्न दलीय संघर्षों के कारण ही इसे विरुद्ध कहा गया हो।

द्वैशासन के विधान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'अन्धक वृष्णि' का प्राप्त होता है। पारस्परिक वैमनस्य के कारण जिस भाग पर जिस राजा का अधिकार होता था, वह उस पर एकाधिपत्य स्थापित कर लेता था और इतर राजा के लिए वही निषिद्ध हो जाता था।

१. अर्थशास्त्र अधि० ८ २।६ से १२ तक

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८।४ ३. यजु० १५।११

६ | आचारांग का दार्शनिक पक्ष

दर्शन शास्त्र की पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यदि तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ आचार को भी दर्शन का विषय माना जावे तो आचारांगसूत्र भी एक दार्शनिक ग्रन्थ कहा जायेगा। परन्तु आचारांग-सूत्र में तत्त्वज्ञान की विषय सामग्री अत्यल्प है और आचार या चारित्र का प्रतिपादन मुख्य रूप से किया गया है। इस दृष्टि से आचारांगसूत्र दर्शन साहित्य में नहीं आता। फिर भी इसमें स्थान-स्थान पर ऐसे उल्लेख मिले हैं जो उसे दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध करते हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र परिज्ञा है। मानव जिन कारणों से जीव-हिंसा करता है, वे शस्त्र कहलाते हैं। प्रारम्भ में जीवों के अज्ञान की चर्चा है।[1] यहां आत्मा की अमरता तथा परलोक गमन का विवेचन मिलता है जो भारतीय दर्शन शास्त्र की शाश्वत एवं प्रधान समस्या है। आचारांग के अनुसार इसके जानने के तीन मार्ग हैं—कोई व्यक्ति उपरोक्त तत्त्व को अपनी सहज स्फूर्ति से जानता है, कोई अरहन्तों के उपदेश से और कोई अन्य व्यक्ति से सुनकर।[2]

इस प्रकार आत्मा को जान लेने के पश्चात् वह व्यक्ति चार बातों में विश्वास करने लगता है—आत्मा, संसार, कर्म और क्रिया।[3] इन चार तत्त्वों की स्वीकृति तत्कालीन मतान्तरों का निराकरण करती है। चार्वाक और बौद्ध आत्मा को नहीं मानते। अद्वैती संसार को मिथ्या कहते हैं। नियतिवादी आजीवकों के कथनानुसार सभी वस्तुएं नियत हैं। क्रिया और फलभोग का कोई अर्थ नहीं। इसके विपरीत जैन दर्शन चारों बातों को मानता है। प्रारम्भ में जैन आगमों में

१. आचारांग १-१-१
२. वही, १-१-१ सूत्र ७
३. वही, १-१-१

युक्ति की अपेक्षा आगम को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है यद्यपि बाद में जाकर आगम के स्थान पर युक्ति को प्राधान्य दिया गया। आचार्य हरिभद्र ने कहा है—मेरा न महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिल आदि के प्रति द्वेष। जिनका वचन युक्ति संगत हो उसी को स्वीकार करना चाहिए।[1] फिर भी आगमों में स्पष्ट रूप से शास्त्राज्ञा को ही धर्म बताया गया है। यह वेदाज्ञा को धर्म मानने वाले मीमांसकों का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। सर्वज्ञत्व के विषय में आचारांग का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है। वह आत्मज्ञ को ही सर्वज्ञ मानता है किन्तु कालान्तर में जब अपने धर्म प्रवर्तकों के महत्त्व को बढ़ाने के लिए प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हुई तो वह अर्थ बिल्कुल बदल गया और विश्व के समस्त द्रव्यों और पदार्थों के ज्ञाता को सर्वज्ञ कहा जाने लगा। आचारांगसूत्र में लिखा है कि जो एक को जानता है, वह सबको जानता है।[2] यहाँ आत्मज्ञ होना ही सर्वज्ञ होना है। उपनिषदों में ब्रह्मरूप तत्त्व को ऐसा बताया गया है जिसके जान लेने पर जो भी अज्ञात है, वह ज्ञात हो जाता है, जो अश्रुत है वह श्रुत हो जाता है।[3] यदि उपनिषदों की तुलना में आचारांगसूत्र का यह वाक्य रखा जावे तो दोनों का एक ही अर्थ निकलता है। परन्तु तर्क दृष्टि से दोनों में अन्तर है। वेदान्त का कथन है कि कारण अर्थात् ब्रह्म जान लेने से कार्य अर्थात् संसार का अपने आप ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म सबका कारण है इसलिए वह सत्य है और उसके जान लेने से समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है।[4] जैन दर्शन कारण तथा कार्य दोनों को सत्य मानता है। वह यह भी नहीं कहता है कि मात्र कारण को जान लेने से समस्त कार्य का ज्ञान हो जाता है। साथ ही साथ उसकी यह मान्यता भी नहीं है कि आत्मा समस्त संसार का कारण है। फिर भी इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर आचारांग के उपरोक्त कथन का पर्यालोचन किया जावे तो यही प्रतीत होगा कि इसमें आत्मज्ञान

---

१. लोकतत्त्वनिर्णय, ३८.
२. आचारांग
३. छान्दोग्य उप० अ० ६ खं० १ श्लो० ३
४. मुण्डक उप० अ० १ खं० २ श्लो० ३

पर जोर दिया गया है। दूसरे अध्ययन में सांसारिक सम्बन्धों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। मनुष्य अपने माता-पिता आदि के मोह में फंसकर अपने कर्तव्य को भूल जाता है किन्तु समय आने पर कोई किसी की रक्षा नहीं करता।[1] इसी में जन्मकृत उच्चता और नीचता का खण्डन कर कहा गया है कि सभी आत्माएं समान हैं अतः विद्वान् पुरुष को कुल विशेष में जन्म लेने के कारण न प्रसन्न होना चाहिए और न दुखी।[2] पांचवें अध्ययन में बताया गया है कि जो आत्मा है, वही विज्ञाता है[3] यह वाक्य महावीर के ज्ञान सिद्धान्त को प्रकट करता है। इसका अर्थ है आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं। ज्ञान का साधन आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते। इनके मतानुसार आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं इसीलिए मुक्ति में ज्ञान का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है।[4] मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए आचारांगसूत्र में कहा गया है वहाँ जरा-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है, कर्म मल दूर हो जाता है, उसके स्वरूप का प्रतिपादन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता है।[5] उपनिषदों में भी वह वाणी और मन से परे बतलाया है।[6] वह मुक्तात्मा न दीर्घ है न छोटा है··· वह तर्क और वाणी से परे है[7] मोक्ष का यह स्वरूप उपनिषदों के शुद्ध ब्रह्म से मिलता है। आचारांगसूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध दर्शन शास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता, उसमें मूलतः आचार मार्ग का ही प्रतिपादन है।

जीव

जैन दर्शन में मान्य षट्द्रव्यों में आचारांग मुख्यतः जीव द्रव्य का ही विवेचन करता है। आचारांग में जीव और आत्मा दोनों ही शब्दों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि आचारांग के मूल में जीव के स्वरूप के

१. नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, आ. १-२-१
२. तम्हा पण्डिए नो हरिसे, नो कुज्झे, वही १-२-३
३. वही १-५-५
४. न्यायसूत्र, अ० १ सूत्र १०
५. आ. १-५-६
६. तैत्तिरीय उप० २-४-१
७. आ. १-५-६

सम्बन्ध में स्पष्ट चर्चा नहीं है किन्तु षड् जीव निकाय का उल्लेख प्राप्त होता है। आत्मा शब्द को परिभाषित करते हुए उसमें कहा गया है कि जो विज्ञाता है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही विज्ञाता है। इससे आत्मा के ज्ञानात्मक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। परवर्ती जैन आगमों में आत्मा का लक्षण उपयोग बताया गया है जो आचारांग में प्रयुक्त 'विज्ञान, शब्द उपयोग' से बहुत भिन्न नहीं है। उपयोग को दो प्रकार का माना गया है—निराकार उपयोग और साकार उपयोग। इनमें निराकार उपयोग को दर्शन और साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं।

प्रत्येक जीव में स्वानुभूति की शक्ति का नाम दर्शन है और बाह्य पदार्थों को जानने-समझने की शक्ति का नाम ज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय के द्वारा अपने-अपने विषय का जो विशेष ज्ञान होता है उसको साकार उपयोग या ज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय, मन और आत्मा के द्वारा पदार्थों का सामान्य रूप से ग्रहण करने वाला निराकार उपयोग दर्शन कहलाता है। जिनमें यह उपयोग शक्ति विद्यमान है वहाँ जीव या आत्मा है और जहाँ इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है वहाँ जीव का अस्तित्व नहीं माना गया है। इस जीव की पहचान पाँच इन्द्रियों, मन, वचन, काय तथा श्वासोच्छ्वास और आयु इन दस प्राणों से होती है। आचारांग के अनुसार प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, उसका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होता।

आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में जीव के छः भेदों का क्रम पूर्वक वर्णन आता है जिसे हम षट् जीव निकाय कहते हैं—

(१) पृथ्वीकायिक जीव,
(२) जलकायिक जीव,
(३) अग्निकायिक जीव,
(४) वायुकायिक जीव,
(५) वनस्पतिकायिक जीव और
(६) त्रसकायिक जीव

निर्युक्तिकार ने पृथ्वीकायिक जीव के चार प्रकार बताये हैं।[1] टीका-

१. आ. नि. ६९

कार ने इसे विस्तार पूर्वक समझाया है।[1] बादर पृथ्वी के दो भेद हैं— लक्षण बादर पृथ्वी, खर बादर पृथ्वी। खर बादर पृथ्वी के ३६ भेद होते हैं। वनस्पतिकाय के समान पृथ्वीकाय के भेदों का वर्णन निर्युक्तिकार ने किया है।[2] वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श के भेद से पृथ्वी के असंख्यात भेद होते हैं।[3] पृथ्वीकायिक जीवों के संक्षेप रूप से चार भेद बताये हैं। उनका राशि प्रमाण भी निर्युक्तिकार ने बताया है।[4] पृथ्वीकाय का परिमाण क्षेत्र एवं काल की दृष्टि से भी बताया गया है। इनकी अवगाहना का भी वर्णन मिलता है।[5] मनुष्य पृथ्वीकाय का उपभोग किस-किस प्रकार से करता है इसका वर्णन भी निर्युक्तिकार ने किया है।[6]

अपकायिक जीवों के दो भेद बताए हैं।[7] उनमें से बादर-अपकाय जीव के पाँच भेद गिनाए गये हैं।[8] टीकाकार ने इन जीवों की विस्तृत व्याख्या की है।[9] निर्युक्तिकार और टीकाकार ने अपकायिक जीवों के परिमाण, लक्षण और उपभोगद्वार का सुन्दर विवेचन किया है।[10]

तेजस्काय जीवों के पूर्ववत् दो भेद बताकर बादर तेजस्काय जीवों के पाँच भेद बताये गये हैं।[11] टीकाकार ने इनकी व्याख्या की है।[12] निर्युक्तिकार ने इसके लक्षणद्वार को[13] स्पष्ट करते हुए उसके परिमाण[14] एवं उपभोगद्वार[15] का भी वर्णन किया है।

वनस्पति के दो भेद कहे गए हैं एक बादर और दूसरा सूक्ष्म। बादर वनस्पति के दो भेद हैं प्रत्येक और साधारण। टीकाकार ने प्रत्येक का लक्षण बताते हुए उसके भेद बताये हैं।[16] प्रत्येक वनस्पति के

---

१. आ. नि. ७३-७६, २. वही, ८० ८१
३. आ. टीका पृ० २८ ४. आ. नि. ८८
५. वही, ८९-९१ ६. वही, ९२-९३
७. वही, १०७ ८. वही, १०८
९. आ. टीका पृ० ३६ १०. आ. नि., १०९-१११
११. वही, ११७-११८ १२. आ. टीका पृ० ४४
१३. आ. नि., ११९ १४. वही, १२०
१५. वही, १२१ १६ आ. टीका पृ० ५१

बारह भेद[1] और साधारण के संक्षेप से सोलह भेद कहे गए हैं।[2] प्रत्येक त्रस को जीव राशि का परिमाण भी बताया गया है।[3] निर्युक्तिकार ने साधारण वनस्पति में रहने वाले जीवों का साधारण या सामान्य लक्षण कहा है।[4] बीजों से वनस्पति की उत्पत्ति का कारण निर्युक्तिकार ने स्पष्ट समझाया है।[5] इनके उपभोग एवं परिभोगद्वार बताये गये हैं।[6] वायुकायिकजीव सूक्ष्म और बादर से दो प्रकार के होते हैं। बादर वायुकायिक जीव के पाँच भेद निर्युक्तिकार ने बताए हैं।[7] वायु दृष्टिगोचर नहीं होता फिर भी वह चेतनावान् है, टीकाकार ने इसे उदाहरण द्वारा समझाया है।[8] निर्युक्तिकार ने वायुकायिक जीव के परिमाण[9] एवं उपभोग द्वार[10] को समझाया है। इस प्रकार यहाँ तक पाँच स्थावर जीवों का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ। इन जीवों की एक इन्द्रिय ही होती है। आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रत्येक उद्देशक में इनका क्रमिक वर्णन मिलता है।

शस्त्रपरीज्ञा अध्ययन के छठवें उद्देशक में त्रसजीवों की हिंसा से बचने के लिए कहा गया है। वहाँ आठ प्रकार के त्रसजीवों का वर्णन आता है।[11] टीकाकार ने भेद पूर्वक इसकी परिभाषा दी है।[12] निर्युक्तिकार ने त्रसजीव के भेद बताए हैं[13] और टीकाकार ने उसे विस्तार से भेद-प्रभेद समझाया है[14]। त्रसजीवों के उत्तर भेदों की गणना भी निर्युक्तिकार ने की है।[15] टीकाकार ने योनिभेद विस्तारपूर्वक बताये हैं[16] इसके बाद त्रसजीवों का परिमाण[17] और उपयोग[18] का

---

१. आ. नि., १२९
२. वही, १३०
३. आ. टीका पृष्ठ ५३
४. आ. नि. १३६
५. वही, १४४, १४५
६. वही १४६-१४७
७. वही, १६६
८. आ. टीका पृ० ६७
९. आ. नि., १६८
१०. वही, १६९
११. आ. नि. १-६
१२. आ. टीका पृष्ठ ६०
१३. आ. नि. १५४
१४. आ. टीका पृ. ६०-६१
१५. आ. नि. १५५
१६. आ. टीका पृ. ६१
१७. आ. नि., १५८-१५९
१८. वही, १६०

वर्णन निर्युक्तिकार ने किया है। आचारांगसूत्र में स्थावर एवं त्रस जीवों की अनुभूति क्षमता का वर्णन निम्न रूप में मिलता है—

"ये जीव जन्मना-इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भाँति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं। शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है वैसे ही इन जीवों को होती है। इन्द्रिय सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर उसे असह्य कष्टानुभूति होती है, वैसे ही इन जीवों को होती है। मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है वैसे ही इन जीव को होती है।[1]

पुद्गल

जैन दर्शन की षट्द्रव्यों की अवधारणा में जीव के प्रतिपक्षी के रूप में पुद्गल की अवधारणा आती है। पुद्गल को जड़ द्रव्य माना है। आचारांगसूत्र के मूल में केवल द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जिसे आयार चूला के नाम से भी जाना जाता है, हमें पुग्गल शब्द मिलता है। वहाँ पर महावीर के गर्भापहरण का चित्रण करते हुये यह कहा गया है कि देव ने क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भाशय से अशुभ पुद्गलों का संहरण करके शुभ पुद्गल निक्षिप्त किये। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि पुद्गल को शरीर के अंगों का निर्माण करने वाला तत्त्व माना गया था, पुद्गल की जो विशिष्ट अवधारणा हमें कालान्तर के ग्रन्थों में मिलती है, वह आचारांग में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि आचारांग की टीका में पुद्गल के अणु और स्कन्ध ऐसे दो भेदों का उल्लेख है। इसमें अन्यत्र यह भी बताया गया है कि द्वय अणु से स्कन्ध का निर्माण होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य

षट् द्रव्यों में धर्म और अधर्म का विवेचन उपलब्ध होता है किन्तु आचारांगसूत्र में द्रव्य के रूप में धर्म और अधर्म की कोई चर्चा

---

१. आ. १।१३७-१३९

उपलब्ध नहीं है। यद्यपि आचारांग के टीकाकार ने धर्म को गति का हेतु तथा अधर्म को स्थिति का हेतु माना है। किन्तु यह टीकाकार की अपनी विवेचना है। आचारांग के मूल भाग में उसकी कोई चर्चा नहीं है।

आकाश द्रव्य

षट् द्रव्यों में आकाश को भी एक द्रव्य माना गया है। किन्तु आचारांगसूत्र में हमें कहीं भी आकाश द्रव्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। आचारांग के टीकाकार ने लोक शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुये आकाश को समस्त द्रव्यों का आधार बताया है, क्योंकि सभी द्रव्य आकाश में प्रतिष्ठित हैं जबकि आकाश स्वप्रतिष्ठित है। अन्य द्रव्यों का आधार होने के कारण यह उससे अधिक व्यापक है।

काल

षट् द्रव्यों की अवधारणा में काल को भी एक द्रव्य माना गया है। आचारांग में काल का स्पष्ट रूप से एक द्रव्य के रूप में उल्लेख तो नहीं है किन्तु समय के सूचक के रूप में काल शब्द का प्रयोग आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में दो-तीन स्थानों पर हुआ है। एक स्थान पर कहा गया है कि काल अर्थात् मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है अर्थात् वह कभी भी आ सकती है—णत्थि कालस्स णागमो[1]। इस प्रकार आचारांग में काल मुख्यतः मृत्यु अथवा समय का सूचक रहा है। काल द्रव्य से जो तात्पर्य परवर्ती जैन दर्शन में लिया जाता है, उस रूप में वह आचारांग में प्राप्त नहीं है।

सप्त तत्त्व

जैन दर्शन में षट् द्रव्यों के साथ सात या नौ तत्त्वों की अवधारणा भी प्रचलित है। उत्तराध्ययन एवं तत्त्वार्थसूत्र में इनके उल्लेख मिलते हैं। आचारांग में स्पष्ट रूप से ७ तत्त्वों का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु उसमें बिखरे हुए सन्दर्भों में अधिकांश की चर्चा उपलब्ध हो जाती है।

---

१. आचारांग १.२.६२

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में जीव और षट्-जीव निकाय का विस्तृत विवेचन हुआ है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। इसी प्रकार अजीव तत्त्व के रूप में पुद्गल की चर्चा की जा चुकी है। आचारांग में कर्म, कर्मरज और कर्म शरीर के उल्लेख मिलते हैं जिसके आधार पर आगे कर्म सिद्धान्त या आत्मा के बन्धन के सिद्धान्त का विकास हुआ है। आचारांग में आश्रव और संवर को भले ही स्वतन्त्र रूप से तत्त्व कहा गया है किन्तु इनकी विस्तृत चर्चा अनुपलब्ध है। बन्धनों के हेतु के रूप में आश्रव और बन्धन से मुक्ति के रूप में निर्जरा अर्थात् परिश्रव की चर्चा आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन में मिलती है। उसमें कहा गया है "जो आश्रव हैं (कर्म का बन्ध करते हैं) वे ही परिश्रव हैं (कर्म का मोक्ष करते हैं)। जो परिश्रव हैं वे ही आश्रव हैं। जो अनाश्रव हैं वे ही अपरिश्रव हैं। जो अपरिश्रव हैं, वे ही अनाश्रव हैं। अतः आश्रव नहीं करना चाहिए।"[1]

इस सन्दर्भ में यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो यहाँ आश्रव को बन्धन का निमित्त माना गया है, किन्तु इसके साथ-साथ यह भी बताया गया है कि वे घटनाएँ जो बाहर से आश्रव का निमित्त लगती है, वे ही भावना विशुद्धि के आधार पर मुक्ति की निमित्त भी बन सकती हैं। इसी प्रकार आचारांग के आठवें अध्ययन में आश्रव विमुक्ति की बात कही गयी है (आसवे हि विवित्ते ही) आश्रव के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवेचन परवर्ती जैन साहित्य में उपलब्ध होता है, वह चाहे आचारांग में उपलब्ध न हो, परन्तु आचारांग भी आश्रव को बन्धन का निमित्त मानता है।

बन्ध

आत्मा के बन्धन की स्थिति को आचारांग में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। आचारांग के द्वितीय अध्ययन के छठें उद्देशक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो बन्धन और मोक्ष के कारणों का अन्वेषण करता है, वही मेधावी है। कुशल पुरुष न तो बद्ध होता है, न मुक्त होता है, वह इससे परे होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

१. आचारांग १.४.१२

आचारांग में बन्धन की अवधारणा तो उपस्थित है किन्तु बन्धन के सम्बन्ध में जो चर्चा परवर्ती साहित्य में है, वह आचारांग में उपलब्ध नहीं है। आचारांग के टीकाकार शीलांक ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद बंध के ये पांच कारण बताये हैं।[1]

टीकाकार ने आचारांगसूत्र के पांचवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक की टीका करते हुए उक्त चार प्रकार के बन्धों का विशद विवरण दिया है।[2] इसके साथ ही दूसरे प्रकार से बन्ध-प्रकार की गणना की गई है।[3] शीलांकाचार्य ने आचारांगसूत्र के चतुर्थ अध्ययन 'सम्यक्त्व' के दूसरे उद्देशक में उन कारणों को बताया है जिनसे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध होता है।[4]

संवर तत्त्व

आश्रव का निरोध करना संवर है।[5] वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।[6] आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में समितियों एवं गुप्तियों का उल्लेख हुआ है। अन्य बातों का वर्णन प्रयोग रूप में दिया गया है।

निर्जरा तत्त्व

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से युक्त व्यक्ति संवर तो करता ही है परन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी करता है। निर्जरा झड़ने को कहते हैं। तप आदि साधनाओं द्वारा बलात् उदय में लाकर कर्मों को बिना फल दिए ही समाप्त कर देना निर्जरा है। आचारांगसूत्रकार ने कर्म शरीर (बन्धन) को धुनने अर्थात् क्षीणकरने को कहा है। यह कर्म शरीर का धुनना, निर्जरा है। निर्जरा तप से होती है।[7] टीकाकार ने तप के दो भेद बताये हैं। बाह्य तप और आभ्यन्तर तप[8]। उसमें भी वह प्रत्येक ६ प्रकार का कहा गया है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-

१. आचारांग टीका पृ. १४३
२. वही पृ. १८६
३. वही,
४. वही, पृ. १६५
५. तत्त्वार्थसूत्र ९।१
६. वही ९।२
७. वही ९।३
८. आ. टीका पृ. १६५

शय्यासन और कायक्लेश यह ६ प्रकार का बाह्य तप है।[1] प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह ६ प्रकार का आभ्यन्तर तप है।[2] इन सबके उत्तर भेद भी गिनाए गए हैं।[3] टीकाकार ने कर्म-क्षय के लिए तप और संयम पर ही अधिक जोर दिया है।[4] सूत्रकार का कथन है कि बाहरी शत्रुओं से लड़ने में कोई सार नहीं है। यदि लड़ना चाहते हो तो आन्तरिक शत्रुओं से ही युद्ध करो।[5] टीकाकार ने लिखा है कि शील का पालन करने में मुनि को क्षणमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।[6]

मोक्ष तत्त्व

आचारांगसूत्र में मुक्त आत्मा के विषय में कहा गया है कि उसे व्यक्त करने में सभी शब्द असमर्थ हो जाते हैं। तर्क वहाँ नहीं है। बुद्धि से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अकेला कर्ममल रहित प्रकाश रूप समस्त लोक का ज्ञाता है। वह मुक्तात्मा न दीर्घ है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण, न चौरस, न मंडलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न सफेद है, न सुगन्धवाला है, न दुर्गन्ध वाला है, न तीखा है, न कड़आ है, न कर्कश है, न मृदु है, न शरीर वाला है, न पुनः जन्म-मरण वाला है, न स्त्री है न पुरुष है—वह ज्ञाता है, वह अरूपी सत्ता वाला है, वह अवस्था रहित है[7]। टीकाकार ने उक्त सूत्र की विशद व्याख्या देते हुए कहा है कि सम्पूर्ण कर्मक्षय वाला, विशिष्ट आकाश प्रदेश में स्थित, अनाबाधसुख वाला, क्षायिक ज्ञान व दर्शन का धारी अनन्तकाल तक स्थित रहता है।[8] आचारांगसूत्र के सप्तम अध्ययन का नाम ही विमोक्ष है। इस सन्दर्भ में निर्युक्तिकार ने विमुक्ति के भेद बताए हैं।[9] इन सबकी यहां विस्तृत चर्चा अपेक्षित नहीं है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।१९
२. वही ९।२०
३. वही ९।२२ से २८ तक
४. आचारांग टीका पृ. १८९
५. आ. १.५.२
६. आचारांग टीका पृ. १९०
७. आचारांग १.५.६
८. आचारांग टीका पृ. २०९
९. आचारांग निर्युक्ति २५७

७ | आचारांग में प्रतिपादित धर्म-साधना

आचारांग की साधना के मूल तत्त्व

निर्युक्तिकार ने आचारांग को जिन-प्रवचन का सार कहा है क्योंकि यह ग्रन्थ मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करता है।[1] इसी बात का स्पष्टीकरण देते हुए टीकाकार ने कहा कि मोक्ष के उपाय (चरण-करण का प्रतिपादन किया जाता है।[2] आचार के अध्ययन का उद्देश्य बताते हुए आचारांग-निर्युक्तिकार ने बताया कि इसका अध्ययन करने से श्रमण धर्म का बोध होता है।[3] प्रवचन का सार आचार है और आचार का सार निर्वाण है।[4] निर्वाण का अर्थ समाप्त होना और मुक्ति का अर्थ छुटकारा होता है। छुटकारा शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—पहला दुःखों से छुटकारा और दूसरा बन्धन से छुटकारा। मुक्ति का अर्थ इन दोनों रूपों में लिया गया है। दुःखों से दूर भागने की प्रवृत्ति प्राणियों में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। सबसे बड़े दुःख मरण और जरा हैं। तभी आचारांगसूत्र में कहा गया है कि शब्द और रूप में उपेक्षा भाव रखने वाला सरल स्वभावी व्यक्ति ही मृत्यु से मुक्त हो जाता है।[5] वस्तुतः बन्धन के स्वरूप को न जानने वाला प्राणी संसार में नाना दिशाओं में परिभ्रमण करता है।[6] संसार में परिभ्रमण का मूल कारण विषय-वासना है।[7] टीकाकार ने आचारांगसूत्र के उपर्युक्त सूत्रों का विशद विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि जो शब्द-रूप आदि में राग-

१. निर्युक्ति ९।
२. आचारांग टीका पृ. ५
३. आचारांग निर्युक्ति १०
४. आचारांग निर्युक्ति ११
५. आचारांगसूत्र १।३।१
६. अपरिन्नाये कम्मे खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ।
७. आ. सू. १।२।१

द्वेष नहीं करता वही साधु होता है, वही मरण से छूट सकता है।[1] इसके विपरीत शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में रागद्वेष या कषाय करने वाला व्यक्ति ही संसार में परिभ्रमण करता है। कषाय ही संसार के मूल कारण हैं।[2] कषाय का अर्थ समझाते हुए टीकाकार ने क्रोध, मान आदि कषायों को संसार का मूल कारण माना है।[3] आचारांगसूत्र में 'कषाय' शब्द क्रोध, मान, माया, और लोभ को कषाय कहा जाता है का उल्लेख है।[4] वासनाओं और कषाओं से मुक्त होना ही आचारांग की साधना का लक्ष्य है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि हे पुरुष (अपना कल्याण करने के लिए) तुम ही अपने मित्र हो इसलिए बाह्य मित्र की आकांक्षा क्यों करते हो।[5] वस्तुतः वासनाओं के या कषायों के वशीभूत आत्मा ही अपना शत्रु होता है और इनको वशीभूत करने वाला आत्मा अपना मित्र है। आचारांग सूत्रकार का कथन है कि मनुष्य को अपने उद्देश्य की प्राप्ति में शीघ्र लग जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य भव बार-बार नहीं आता। किसी कार्य को करने में शक्ति लगती है, वह शक्ति मनुष्य को युवावस्था में प्राप्त होती है इसलिए क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।[6] सबसे पहले व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह एक अपनी आत्मा को जाने क्योंकि एक के जान लेने पर वह सबको जान सकता है।[7]

जैन सिद्धान्त के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों की एकता का नाम मोक्ष मार्ग है।[8] आचारांग-निर्युक्तिकार का कथन है कि सम्यग्दर्शन से युक्त होने पर ही ज्ञान और चारित्र सफल हो सकते हैं।[9] वस्तुतः दर्शन और ज्ञान की सफलता चारित्र की पूर्णता में है और आचारांग मूलतः साधना प्रधान ग्रन्थ है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में साधना के मूल सूत्र संयम, तपश्चर्या,

१. आचारांगटीका पृ. १४१। २. वही, पृ. ८९-९०
३. वही पृ. ७५
४. कसायपयणु किच्चा—आचारांग १।८।६।१०५
५. आचारांगसूत्र १।३।३ ६. आचारांगसूत्र १ ?
७. आचारांगसूत्र १।३।४ ८. तत्त्वार्थसूत्र १.१
९. आचारांगसूत्र २२१

समता का प्रस्तुतीकरण किया गया है, जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में जैन श्रमण एवं श्रमणियों के आचार नियमों का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि आचारांग में हमें ज्ञान और चारित्र दोनों के निर्देश प्राप्त होते हैं फिर भी आचारांग ज्ञान की अपेक्षा चारित्र पर अधिक बल देता है। आचारांग की साधना-पद्धति का मूलभूत लाभ तो अहिंसा आदि महाव्रतों की साधना ही है, यद्यपि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दूषित मनोवृत्तियों, जिन्हें आगे चलकर जैन परम्परा में कषाय कहा गया है, के त्याग का उपदेश भी उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें इन्द्रिय संयम और तप पर भी बल दिया गया है।

धर्म का तात्पर्य

आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में धर्म शब्द की दो व्याख्याएं उपलब्ध होती है— एक स्थान पर समभाव की साधना को धर्म कहा गया है तो दूसरे स्थान पर अहिंसा के परिपालन को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहा गया है। वस्तुतः समभाव यदि धार्मिक साधना का आन्तरिक पक्ष है तो अहिंसा उसका बाह्य या सामाजिक पक्ष है। आन्तरिक जीवन में समता और बाह्य व्यवहार में अहिंसा का परिपालन ही आचारांग की साधना का हार्द है। यद्यपि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में हमें पञ्चमहाव्रतों का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है। उसमें केवल अहिंसा की ही प्रमुखता से चर्चा हुई है, किन्तु उसके दूसरे श्रुतस्कन्ध में पञ्चमहाव्रतों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध है, फिर भी इतना निश्चित है कि आचारांग की सम्पूर्ण धर्म साधना-पद्धति का मूल या हार्द समता और अहिंसा की साधना में ही है। अतः हम सर्वप्रथम समता के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

समता

समता का अर्थ है शत्रु-मित्र पर समभाव रखना, राग-द्वेष पर विजय पाना। समभाव के द्वारा ही धर्म की सच्ची आराधना हो सकती है। गीता में कही हुई स्थितप्रज्ञता इसी समता का पर्यायवाची शब्द

है।[1] सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मित्र-अमित्र आदि में अपनी वृत्तियों को समतोल रखना ही स्थितप्रज्ञता है और यही समता का अर्थ है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि जो व्यक्ति हर जगह समभाव से देखता है, चाहे सुख हो या दुःख, वही योगी माना गया है।[2] साम्यभाव धारण करने वाला व्यक्ति योगी कहा जाता है क्योंकि समभाव ही तो योग है।[3] आगे चलकर यह बताया गया है कि साम्यभाव के धनी भगवान् में स्थित हो जाते हैं।[4] इसी भाव को प्रदर्शित करने वाला आचारांगसूत्र का यह वाक्य है जिसमें कहा गया है कि जो साम्यभाव को देखता है, वह मोक्ष को देखता है[5]। भगवान् महावीर भी सबसे समानता का व्यवहार रखते थे[6]। समता का विचार करके अपनी आत्मा को साधु प्रसन्न रखे[7], ऐसा उपदेश दिया गया है। भगवान् महावीर ने समतापूर्वक ही उपसर्ग और परीषह सहन किए थे।[8] साम्यभाव धारण करने से कर्मों की निर्जरा होती है। समता का आधार वस्तु का स्वरूप है। यह आत्मा अमर है। इसकी अमरता पर विश्वास रखने वाला सम्यग्दृष्टि व्यक्ति शारीरिक कष्टों से विचलित नहीं होता। क्योंकि आत्मा तो अछेद्य, अभेद्य और अदाह्य है।[9] गीता कहती है—उसे शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु उसे सुखा नहीं सकती।[10] इसीलिए बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह सुख-दुःख में समभाव रखे, न तो सुख में हर्ष करे और न कष्ट की स्थिति में अन्य प्राणियों पर क्रोध करे।[11] समभाव के साधक के लिए क्या

१. गीता ६.९ २. वही ६.३२
३. समत्वं योग उच्यते, वही २.४८ ४. वही ५.१९
५. जं सम्मं ति पासह, तं मोणं ति पासह। आचारांगसूत्र
६. जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ। आचारांगसूत्र
७. समयं तत्थुवट्ठाए अप्पाणं विप्पसायए। आचारांगसूत्र १.३.३.
८. आचारांगसूत्र १.९.४
९. आचारांग १.३.३.
१०. वही, २.२३
११. वही २.८.२.

अरति और क्या आनन्द ?[1] समता योग की साधना के लिए संयम और तप का अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है, इनकी पूर्णता पर ही साम्यभाव पूर्ण हो सकता है।

समता का साधक 'मिति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ' के सिद्धान्त का अनुगामी होता है। समदृष्टि बनने के लिए संयम और तप आवश्यक है। आचारांग में मुख्यतः साधु के आचार के अन्तर्गत समता, अहिंसा, संयम और तप का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इनके सिवाय सहिष्णुता,[3] ब्रह्मचर्य,[3] सत्य,[4] त्याग,[5] वीरता,[6] विवेक जागृति[7] सम्बन्धी उपदेश भी यत्र तत्र देखने को मिलते हैं।

संयम

आचारांगसूत्र आचार प्रधान ग्रन्थ है इसलिए इसमें सम्यक् चारित्र का वर्णन बिखरा हुआ पड़ा है। निर्युक्तिकार का कथन है कि लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण है।[8] संयम में लीन रहने वाला व्यक्ति पाप कर्मों को नष्ट कर देता है।[9] और पाप से दूर रहने वाला व्यक्ति मोक्ष पा सकता है।[10] विषयों से अप्रमत्त रहता हुआ पाप कर्मों से दूर रहता है। वह वीर आत्म-संयम रखता है।[11] इसीलिए सूत्रकार संयम-पालन का उपदेश देते हैं—'जो मनुष्य ध्रुवचारी हैं, वे सांसारिक विषय-भोगों की आकांक्षा नहीं करते। मुमुक्षु जन्म-मरण के स्वरूप को जानकर संयम में दृढ़ता पूर्वक विचरे।[12] उसे विषयों की कामना

---

१. आचारांग २।६।६
२. आ. सू. १।८।८ श्लोक २४,२५
३. वही १।३।१ व १।९।१
४. वही १।३।१ और १।२।१
५. वही १।६।१
६. वही १।३।२
७. वही १।३।१, ४,९ आदि
८. आचारांग निर्युक्ति २४४
९. आचारांग १।३।२
१०. वही १।३।३
११. वही १।२।१
१२. वही १।२।३

नहीं रखना चाहिए क्योंकि कामनाओं का पार पाना कठिन है। जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता। कामी शोक करता है, विलाप करता है, मर्यादा से भ्रष्ट होता है, दुखी और संतप्त हो जाता है।[1] इसलिए सूत्रकार ने संयम पालन करने का उपदेश दिया है। जो संयम का पालन करता है, वह पुरुष ही कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है। संयमी सदा यत्नवान और अप्रमत्त रहता है। संयम से अरति को दूर करने वाला मेधावी क्षणमात्र में मुक्त हो जाता है।[2] इसलिए व्यक्ति को प्रमाद नहीं करना चाहिये, प्रमाद करने वाला व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। प्रमाद के कारण ही जीव, अंधा, बहरा, गूंगा, काना, ठूंठा, कुबड़ा, बौना, श्यामल, कोढ़ी इन विविध रूपों में जन्म ग्रहण करता है। अनेक प्रकार के स्पर्शों का संवेदन करता है। यह बात जिसे समझ में नहीं आती वह जन्म-मरण के चक्कर में फिरता रहता है।[3] जो आत्म-साधना में लवलीन है उसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।[4] जो वीर है, वह कभी संयम में ग्लानि का अनुभव नहीं कर सकता, अतएव वह हमेशा शान्तचित्त रहता है।[5] वही साधक साधना में लग सकता है जिसका चित्त चंचल नहीं है, जो इन्द्रियों के विषय में अनुरक्ति नहीं रखता और जो संयम की आराधना में लीन रहता है। संयम पर अधिक जोर देने का अर्थ है कि मोक्ष मार्ग वीरों का मार्ग है।[6]

निर्युक्तिकार[7] और टीकाकार[8] दोनों ने संयम के भेदों को गिनाते हुए उसे एक से लेकर १८ हजार भेद वाला बताया है। परन्तु प्रमुख रूप से पांच महाव्रत का वर्णन किया गया है। टीकाकार ने संयम स्थानों का जो सुन्दर और विशद वर्णन किया है, वह पठनीय है।[9]

---

१. आचारांगसूत्र १.२.५ २. वही १.३.४
३. वही १.२.३ ४. वही १.३.३
५. वही १.२.१
६. दुरणुचरो मग्गो वीराणं वही १.४.४
७. आवश्यकनिर्युक्ति २९३,२९७ ८. आचारांगटीका पृष्ठ १९१

तपश्चर्या

विषयों से मन को हटाने के लिए और राग-द्वेष पर विजय पाने के लिए जिन उपायों द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मन को तपाया जाता है, वे उपाय तप कहलाते हैं।[1]

सूत्रकार ने तप के सम्बन्ध में महावीर के जीवन का आदर्श लोगों के सामने रखा है। लोकविजय अध्ययन में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति रंग-बिरंगे वस्त्र, मणिरत्न, स्वर्ण आभूषण, स्त्री आदि प्राप्त करके उनमें आसक्त हो जाते हैं, वे तप, इन्द्रिय-दमन या अहिंसादि व्रत का पालन नहीं कर सकते।[2] स्पष्ट है कि तप की साधना के लिए सबसे पहले आसक्ति को छोड़ना आवश्यक है। यदि कभी ऐसा अवसर आ जाये कि साधु को इंद्रिय-विषय पीड़ित करने लगे तो उसे कहा गया है कि वह कम आहार करे, कायोत्सर्ग करे, दूसरे ग्राम में विहार कर दे या अनशन कर ले, परन्तु स्त्रियों में मन न लगाये।[3] मुनि रूखा-सूखा आहार लेते हैं और अपने शरीर को सुखाते हैं।[4] भगवान् महावीर स्वयं रूखा-सूखा जो आहार मिलता था उसे स्वीकार करते थे। उपवास करना तो उन्होंने अपना क्रम ही बना लिया था।[5] रोग न होने पर भी वे अल्प आहार करते थे।[6] सूत्रकार ने कहा है कि साधु को आहार न मिलने पर क्रोध नहीं करना चाहिए और थोड़ा मिलने पर निन्दा नहीं करना चाहिए।[7] महावीर ने चकित्सा कराने की कभी आकांक्षा नहीं की, शरीर को अशुचि मानकर उन्होंने स्नान, दन्तधावन, तैलमर्दन आदि क्रियाएँ भी नहीं की और न तो उन्होंने जुलाब लिया और न वमन किया।[8] सबसे पहले शरीर-दमन का ही उपदेश दिया गया है। मांस-खून को सुखाकर ब्रह्मचर्य में रहकर जो शरीर को धुनता है वह पुरुष मोक्ष के योग्य सच्चा वीर कहा जाता है।[9] इस संसार

१. जैनदर्शन पृष्ठ २६१
२. आचारांग सूत्र १।२।३
३. वही १।५।४
४. वही १।५।३
५. आचारांग सूत्र १।९।४ श्लोक ५,६,७।
६. वही १।०।४, १
७. आचारांग सूत्र १।२।५
८. आचारांग सूत्र १।९।४ श्लोक २
९. वही १।४।४

में सर्वज्ञ की आज्ञा पालन करने वाला पंडित राग-रहित होकर आत्मा को अकेला जानकर शरीर को धुने-सुखावे। अपने आपको कृश करे, जीर्ण करे, जिस प्रकार अग्नि काष्ठ (लकड़ी) को भस्मसात् करती है।[1] भगवान् महावीर ठंड की ऋतु में शीत तथा गर्मी की ऋतु में गर्मी समभाव पूर्वक सहन करते थे।[2] उनकी यह तप-साधना समभाव की ही साधना थी। यह समभाव की साधना सामाजिक जीवन में अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह कही जाती है।

अहिंसा

समभाव से प्रकट अहिंसा की दिव्य ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है तो वचन-व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद के रूप में जगमगाती है और समाज-शान्ति के लिए अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनाती है अर्थात् आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह—ये, वे चार महान स्तम्भ हैं जिन पर जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। युग-युग में तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर उसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया है।

आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। अहिंसा ही संयम है। अतः अपने समान सब प्राणियों को समझकर उनकी हिंसा नहीं करना चाहिए।[3] अहिंसा ही सच्चा धर्म है। यही धर्म भगवान् के द्वारा उपदिष्ट है। हिंसा और धर्म एक साथ नहीं रह सकते अतः अहिंसा की उपासना करना चाहिए।[4] जीवन में धर्म की सच्ची आराधना करने के लिए शुद्ध अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह रूप त्रियाम की आवश्यकता है।[5] अहिंसा व्रत की साधना के लिए पाँच भावनाओं का वर्णन भी मिलता है।[6]

---

१. आचारांगसूत्र १।४।३ २. आचारांगसूत्र १।९।४ श्लोक ३।४
३. आचारांगसूत्र प्रथम अध्ययन १।३।४।५।६ उद्देशक :
४. आचारांगसूत्र १।४।१ ५. आचारांगसूत्र १।८।१४, २।१५।१
६. आचारांगटीका पृ. १५

नियुक्तिकार चतुर्थ 'सम्यक्त्व अध्ययन' की नियुक्ति लिखते हुए कहते हैं कि अहिंसा का पालन कृत, कारित और अनुमोदनपूर्वक करना चाहिए। ऐसा उपदेश वर्तमान, भूत और भविष्यत् कालीन अर्हतों का होता है।[1] यह विचार कर कौन अपने गोत्र का अहंकार न करेगा।[2]

श्रमण परम्परा की अहिंसा सम्बन्धी साधना कालक्रम में विकसित होकर दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर के जीवन में उदात्त रूप से व्यक्त हुई, हम उसे आचाराङ्ग, सूत्रकृतांग आदि प्राचीन जैन आगमों में स्पष्ट रूप से देखते हैं। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा तो आत्मोपम्य या समभाव की दृष्टि से हुई है। आचारांग में उसका निरूपण और विश्लेषण इस प्रकार हुआ है :—

(१) दुःख और भय का कारण होने से हिंसा निषिद्ध है, यह अहिंसा सिद्धान्त की उपपत्ति है।

(२) हिंसा का अर्थ यद्यपि प्राण नाश करना या दुःख देना है तथापि हिंसाजन्यदोष का आधार तो मात्र प्रमाद अर्थात् राग-द्वेषादि ही है। अगर प्रमाद और आसक्ति न हो तो केवल प्राणनाश हिंसा की कोटि में नहीं आ सकता, यह अहिंसा का विश्लेषण है।

(३) वध्य जीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि संपत्ति के तारतम्य के ऊपर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलम्बित नहीं है, किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता, अज्ञानता या बल प्रयोग की न्यूनाधिकता के ऊपर अवलम्बित है, ऐसा कोटिक्रम है।

पं० सुखलाल संघवी का कथन है कि उपर्युक्त तीनों बातें भगवान् महावीर के विचार तथा आचार में से फलित होकर आगमों में ग्रंथित हुई हैं।[3] हिंसा से निवृत्त होना अहिंसा है। आचाराङ्गसूत्र में पृथ्वीकायिक जीव,[4] जलकायिक जीव,[5] वनस्पतिकायिक जीव,[6] अग्निका-

१. आचारांगनिर्युक्ति २२५, २२६
२. आचारांगसूत्र १।२।३
३. दर्शन और चिंतन : पृष्ठ ४१३
४. आचारांगसूत्र १।१।२
५. वही १।१।३
६. आचारांगसूत्र १।१।५

यिक जीव,[1] त्रसकायिक जीव[2] और वायुकायिक जीव[3] की हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार साधु को षट्काय के जीवों की हिंसा से बचना चाहिए क्योंकि हिंसा अकल्याण और मिथ्यात्व का कारण होती है। यदि कोई व्यक्ति हिंसा से बचना चाहता है तो उसे हिंसा करने वाले का साथ भी छोड़ना पड़ेगा।[4] अहिंसा ही सच्चा धर्म है, इसी पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। विलास हिंसा का पोषक है।[5] षट्काय जीवों की हिंसा करने वाला व्यक्ति संसार से कभी पार नहीं हो सकता।[6] अहिंसक को चलते समय भी सावधानी का व्यवहार करना चाहिए, ताकि कहीं प्रमाद में भी अज्ञात भाव से हिंसा न हो जाये। मन-वचन-काय की विशुद्धता अहिंसा धर्म की सहयोगिनी है। जब कोई वस्तु उठाई जावे या रखी जावे तो स्थान व वस्तुओं को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए। इसी प्रकार आहार, पानी लेते समय भी सावधानी का व्यवहार करना चाहिए।[7] प्रमत्त योग से प्राणों का वध करना हिंसा है।[8] जैनागम मात्र प्राणों के के व्यपरोपण को हिंसा नहीं मानता बल्कि प्रमाद और योग के निमित्त से होने वाली हिंसा को पाप का कारण मानता है। अतः जैन शास्त्रों में प्रमाद-त्याग पर विशेष जोर दिया गया है।[9] अहिंसा को पूर्ण रूप से समझने के लिए निम्न चार विद्याओं का ज्ञान होना आवश्यक है—आत्म-विद्या, कर्म-विद्या, चारित्र-विद्या और लोक-विद्या। प्रत्येक आत्मा समान है[10] यही आत्म-विद्या का सार है। संसार में विद्यमान विषमता का उत्तर कर्म-विद्या देती है। आत्मा का विकास चारित्र-विद्या पर भी अवलम्बित है। चारित्र का कार्य है जीवन में रहने वाली विषमता को दूर करना।

छान्दोग्योपनिषद्[11] में अहिंसा का उल्लेख आया है। महाभारत[12]

१. वही १।१।४
२. वही १।१।६
३. वही १।१।७
४. आचारांगसूत्र १।३।२
५. वही १।४।१
६. आचारांगसूत्र १।५।१
७. वही २।१।५
८. तत्त्वार्थसूत्र ७। १३
९. आचारांगसूत्र १।२।१
१०. वही १।१।२ से ७ तक।
११. छांदोग्योपनिषद् ३।१७
१२. महाभारत १६२।७ (अद्रोहा सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा)

में मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन शाश्वत धर्म कहा गया है। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्यस्मृति के भाष्य मिताक्षरा में लिखा है कि अहिंसा आदि गुण सबके लिए हैं।[1] वशिष्ठ के मत से भी अहिंसा एक सामान्य धर्म है जो सबके लिए है।[2] मनु ने अहिंसा को धर्म कहा है।[3] आचारांग में अहिंसा धर्म की व्याख्या प्रायः हर जगह उपलब्ध है।

सत्य महाव्रत

सब प्रकार के असत्य रूप वाणी-दोष का यावज्जीवन त्याग करना सत्य महाव्रत कहलाता है। जो कुछ भी प्रमाद-कषाय के योग से स्वपर को हानिकारक अथवा अन्यथा रूप वचन कहे जाते हैं वह असत्य है। असत्य के चार भेद किए गए हैं—(१) जिस वचन में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा विद्यमान वस्तु का निषेध किया जावे। (२) जिस वचन में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अविद्यमान वस्तु का सद्भाव कहा जावे। (३) जिस वचन में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा विद्यमान वस्तु का स्वरूप अन्य रूप कहा जावे। (४) चौथे प्रकार के असत्य वचन के तीन भेद किए जाते हैं—(अ) गर्हित, (ब) सावद्य, (स) अप्रिय।

आचाराङ्गसूत्र में सत्य व्रत के लिए पांच भावनाओं का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार सत्यव्रती बिना विचारे कभी नहीं बोलता। क्रोध के समय झूठे वचन मुख से निकल आते हैं इसलिए क्रोध का त्याग करना चाहिए। लालच या लोभ में पड़कर भी मनुष्य झूठ बोल सकता है इसलिए सत्य की रक्षा के लिए लोभ का त्याग आवश्यक है। भय के कारण लोग सत्य वचन नहीं बोल पाते, इसलिए निर्भीक बनने का उपदेश दिया गया है। हास्य, विनोद का त्याग सत्य की रक्षा के लिए होता है।[4] आचाराङ्गसूत्र में विषय का वर्णन प्रयोगात्मक पद्धति पर आधारित है। अहिंसा और सत्य के पारस्परिक विरोध

---

१. मिताक्षरा १।१ २. वशिष्ठधर्मसूत्र ४।४, १०।३०
३. मनुस्मृति ६।६२ ४. आचारांगसूत्र २।१५

और समन्वय का एक उदाहरण सूत्रकृतांग में आता है।[1] धर्म का अनुशासन सत्यवादी बनने का है परन्तु किसी पशु की हिंसा के लिए उसके पीछे कोई शिकारी पड़ा हो और वह पूछे तो जानकारी होने पर भी पशु-रक्षा के लिए निरुपाय होकर यदि असत्य बोलना पड़े तो इस प्रकार से बोलने का समर्थन किया गया है। क्योंकि यह अहिंसा की साधना के लिए आवश्यक है। इसी भाव का समर्थन महाभारत में प्राप्त होता है। इसके अनुसार प्राणियों की प्राण-रक्षा के लिए बोला गया असत्य सत्य हो जाता है। सत्य की रक्षा के लिए मौन एक परम सहकारी तत्त्व है इसलिए आचाराङ्गसूत्र में कहा गया है कि जो सम्यक्त्व को देखता है वह मौन को देखता है।[2] मुनि मौन को धारण करके ही कर्म शरीर को नष्ट कर सकता है।[3] सूत्रकार ने कहा है कि 'हे पुरुष सत्य को जान, सत्य की आज्ञा में चलने वाला मेधावी मृत्यु को तर जाता है।'[4] साधु को यह विचार करना चाहिए कि निश्चय ही मैंने बहुत से पाप कर्म किये, ऐसा सोचकर सत्य में दृढ़ हो। ऐसा मेधावी सर्व पाप को क्षय करता है।[5] वैदिक धर्म में संन्यासी से कहा गया है कि केवल वैदिक मन्त्रों के जप को छोड़कर उसे साधारणतः मौन रखना चाहिए।[6] मनुस्मृति का उल्लेख करते हुए भारतरत्न पी० वी० काणे ने लिखा है[7] कि संन्यासी को सत्य से पवित्र हुए शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार वैदिक संन्यासी को भी हमेशा सत्यवादी रहने का उपदेश दिया गया है।

अचौर्य महाव्रत

चोरी न करना अर्थात् दूसरे की वस्तु को मन, वचन, काय से न लेना अस्तेय या अचौर्य व्रत कहलाता है। साधु अपने मन में यह संकल्प कर लेता है कि मैं सब प्रकार की चोरी का यावज्जीवन त्याग

---

१. आचारांगसूत्र ८।१९ २. वही १।५।३

३. वही १।५।३

४. पुरिसा सच्चमेव मेहावी मारतरइ। आचारांग १।३।३

५. बहुं च खलु पावं कम्मं पकोसेइ। आचारांगसूत्र १।३।२

६. मनुस्मृति ६।४६, गौतमधर्मसूत्र २।१६, बौधायनधर्मसूत्र २।१०।७९, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।९।२१।१०

७. धर्मशास्त्र का इतिहास : पृ. ४९४।

करता हूँ। गांव, नगर या वन में से थोड़ा या अधिक, बड़ा या छोटा, सचित्त या अचित्त कुछ भी बिना दूसरों के दिए न उठाऊँ, न दूसरों से उठवाऊँ और न किसी को उठाने की अनुमति दूँ। मैं इस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने को उससे मुक्त करता हूँ।[1] इस व्रत की स्थिरता के लिये आचाराङ्ग-सूत्र में पाँच भावनाएँ कही गई हैं।[2] उनके अनुसार साधु को विचार-पूर्वक परिमित परिमाण में भिक्षा स्वीकार करना चाहिए। अनुज्ञा-पूर्वक भोजन-पान करना चाहिए ताकि आवश्यकता से अधिक भोजन-पान न हो जाए। साधु को न केवल अपने परिमाण को देखना है बल्कि साधर्मियों के लिए विचार कर परिमित परिमाण में भिक्षा स्वीकार करनी चाहिए। इन भावनाओं को देखने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधु के ममत्व भाव को ही दूर करने का प्रयत्न किया गया है। आचाराङ्गसूत्र में एक स्थान पर[3] कहा गया है कि साधु को आहार प्राप्त करने पर उसकी मात्रा को जान लेना चाहिए। वैदिक धर्म में संन्यासी के लिए आहार सम्बन्धी कोई नियम नहीं मिलते लेकिन इस महाव्रत की भावनाओं से मिलते-जुलते नियम दृष्टिगोचर होते हैं। कई स्थानों पर कहा गया है कि संन्यासी को मात्र आठ कौर भोजन करना चाहिए।[4] अन्यत्र भी उल्लेख है कि संन्यासी को भरपेट भोजन नहीं करना चाहिए, उसे केवल उतना ही पाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर एवं आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो संतोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और न कम मिलने पर निराशा।[5] इसी प्रकार आचाराङ्ग-सूत्र में कहा गया है 'न मे देइ न कुप्पेज्जा, थोवं लद्धं न खिसए।'[6] धन जीवों का बाह्य प्राण कहा गया है, इस कारण धन-हरण करने से

१. आचारांगसूत्र २।१५।
२. वही २।१५।
३. 'लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणेजा' १।२।५
४. आप० २।४।९।१३; वसिष्ठ ६।२०।२१ बौधा० २।७।३१–३२
५. मनु ६।५७ व ५९; वसिष्ठ १०।२१–२२ व २५; याज्ञ० ३।५९
६. आचारांगसूत्र १।२।४

जीवों का प्राणघात हो जाता है,[1] इसलिए चोरी करना हिंसा है। इसका वर्णन इस रूप में भी मिलता है कि प्रमाद-कषाय के योग से बिना वितरण किए हुए जो सुवर्ण, वस्त्र आदि का परिग्रह करता है उसे चोरी जानना चाहिए। वही बंध के हेतु से हिंसा भी है। आचाराङ्ग का कथन है कि अदत्तादान या चोरी भी एक प्रकार से जीव हिंसा ही है।[2]

ब्रह्मचर्य महाव्रत

मोक्ष मार्ग पर चलने वाले साधु के लिए निरतिचार ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश दिया गया है।[3] सूत्रकृतांग में भी ब्रह्मचर्य तपों में उत्तम बताया गया है।[4] प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ही सुब्राह्मण, सुश्रमण और सुसाधु है। जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है, वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयमी है, वही भिक्षुक है। ब्रह्मचर्य चारित्र का एकमात्र जीवन है[5] इसलिए आचाराङ्गसूत्र में कहा गया है कि जो कुशल है वह काम-भोगों का सेवन नहीं करता।[6] साधु से स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वह स्त्री-कथा न करे, स्त्रियों की ओर न देखे, उनके साथ एकांतवास न करे, उनके प्रति ममत्व न रखे, उनके चित्त को आकर्षित करने के लिए साज-सज्जा न करे। वह वचन से गुप्त रह आत्मा को संवृत्त रख पाप कर्म से सदा दूर रहे। वह इस तरह मौन ब्रह्मचर्य की उपासना करे,[7] क्योंकि इस दुनिया में सबसे बड़ा आकर्षण स्त्री ही है; इस में साधुओं को नहीं फंसना चाहिए। यदि कभी इन्द्रियाँ प्रबल हो जाएँ तो उसे उन्हें नियंत्रण में लाने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इन्द्रियां कलहकारी होती हैं;

---

१. वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्यशरीरिणाम्।
तस्यापहारमात्रेण म्रियन्ते प्राणिनः पतिताः॥

२. अदुवा अदिन्नादाणं—आचारांगसूत्र १।१।३

३. 'वसित्ता बंभचेरं' आचारांगसूत्र १।४।४

४. 'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं' सूत्रकृतांग १।६।२३

५. प्रश्नव्याकरण २।७ ६. आचारांगसूत्र १।५।१

७. वही १।५।४

पहले तो आनन्द मालूम पड़ता है परन्तु बाद में वे कष्टकारी हो जाती हैं।[1] इसीलिए साधु को प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं सब प्रकार के मैथुन का यावज्जीवन त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन को कृत कारित अनुमोदन पूर्वक छोड़ता हूँ।[2]

निर्ग्रन्थ बार-बार स्त्री सम्बन्धी बातें न करें क्योंकि ऐसा करने से उसके चित्त की शान्ति भंग होकर, केवली के उपदिष्ट धर्म से उसका भ्रष्ट होना सम्भव है। वह स्त्रियों के मनोहर अंगों को न देखे और न विचारे। स्त्री के साथ पहले की हुई काम-क्रीड़ा को याद न करे। परिमाण से अधिक और कामोद्दीपक आहार-पान का सेवन न करे तथा स्त्री, मादा-पशु या नपुंसक के आसन या शय्या को काम में न लावे। इन पांच भावनाओं[3] के पालन करने पर ही उसे इस महाव्रत का सच्चा व्रती बताया गया है।

स्त्री सम्बन्धी नियम

जैन साधु अतिचाररहित ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है, इसलिए उसे स्वस्त्री से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ता है। आचारांगसूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि 'साधु स्त्री-कथा न करे, स्त्रियों की ओर न देखे, उनके साथ एकान्तवास न करे, उनके प्रति ममत्व न रखे। उनके चित्त को आकर्षित करने के लिए साज-सज्जा न करे। वह वचन से गुप्त रहे, आत्मा को संवृत्त रख पाप कर्म से सदा दूर रहे, इस तरह मौन ब्रह्मचर्य की उपासना करे। ऐसा मैं कहता हूँ।'[4] ब्रह्मचर्य की साधना के लिए साधु को ५ भावनाओं के पालन करने का उपदेश दिया गया है 'उसे स्त्री-कथा नहीं करना चाहिए। स्त्री का अवलोकन नहीं करना चाहिये। पूर्वावस्था में भोगे गए भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए, ऐसे भोजन को ग्रहण नहीं करना चाहिये जिनसे काम सम्बन्धी उत्तेजना हो। स्त्री, पशु आदि के शय्यासन का उपयोग नहीं करना चाहिये।'[5] इस प्रकार

---

१. आचारांगसूत्र १।५।४
२. वही २।१५
३. वही २।१५
४. वही १।४।४
५. वही २।१५

जैन साधु स्त्री का स्पर्श मन-वचन और काय से नहीं कर सकता लेकिन एक स्थान पर कहा गया है कि स्त्री का स्पर्श साधु के लिए निषिद्ध होने पर यदि कोई स्त्री नदी, आग अथवा ऐसी कोई विकट आपत्ति में फँस गई हो तो उस समय उसे स्पर्श करके भी बचाने वाला साधु धर्म को प्राप्त होता है। इसमें अहिंसा की भावना परिलक्षित है। आचारांग-सूत्र की रचना के बाद स्त्री सहवास सम्बन्धी किसी नियम में शिथिलता नहीं आने दी गई। स्त्री सम्बन्धी विकार साधु को नर्क ले जाने वाला होता है—यह दिखाकर उसे भयभीत किया गया।

वैदिक ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में दो प्रकार की धाराओं का वर्णन है। वह वन में अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रों के आश्रय में छोड़कर जा सकता है।[1] यदि स्त्री चाहे तो साथ जा सकती है। मेधातिथि ने टिप्पणी की है कि यदि पत्नी युवती हो तो वह पुत्रों के साथ रह सकती हैकिन्तु बूढ़ी हो तो वह पति का अनुसरण कर सकती है।[2] उक्त विवरण वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत आया है। संन्यासाश्रम में उसे सर्वथा अकेले रहना पड़ता है। घर, पत्नी, पुत्रों तथा सम्पत्ति का त्याग करके संन्यासी को गांव के बाहर रहना चाहिए, उसे ब्रह्मचारी होना चाहिए।[3]

अपरिग्रह

जो ममत्व बुद्धि को छोड़ता है वह परिग्रह जो छोड़ता है, जिसके परिग्रह नहीं है वही मुनि (मुक्ति) पथ को देखने वाला है।[4] इस कथन से परिग्रह की परिभाषा प्राप्त की जा सकती है। उमास्वामि ने भी ऐसी ही परिभाषा दी है।[5] परिग्रह के दो भेद हैं—अन्तरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। साधु को बाह्य और अंतरंग दोनों परिग्रहों से मुक्त होना चाहिए। परिग्रह का फल बताते हुये सूत्रकार का कथन है कि मनुष्य द्विपद-चतुष्पद को रख उन्हें काम में लगा तीन करण,

---

१. मनु० ६।३, याज्ञ० ३।४५, २. धर्मशास्त्र का इतिहास :भाग १पृ० ४८३
३. मनु० ६।४१ ४. आचारांग १।२।६
५. मूर्छा परिग्रहः। तत्वार्थसूत्र ७।१७

तीन योग से संचय करता है और संचित वस्तुओं को जो भी थोड़ी या अधिक मात्रा होती है उसमें वह भोग करने के लिए आसक्त रहता है।[1] एक समय ऐसा आता है कि मनुष्य की सम्पत्ति बहुत बढ़ जाती है और तब दूसरे समय उसके उत्तराधिकारी बांट लेते हैं या चोर चुरा लेते हैं या राजा छीन लेते हैं या वह नष्ट हो जाती है या आग लग जाने से जल जाती है। इस प्रकार वह मूर्ख दुष्टतापूर्ण कार्य करके दूसरों को लाभ पहुँचाता है।[2] परिग्रह जोड़कर व्यक्ति कभी स्वयं लाभान्वित नहीं होता।

जीवों के द्वारा परिग्रह से ही इस लोक में कषाय और हिंसा होती है। मुनि अपनी आवश्यकता-पूर्ति हेतु भिक्षावृत्ति करता है। वस्त्र, पात्र, रजोहरण, स्थान, शय्या और आसन के लिये उसे गृहस्थों के पास जाना पड़ता है इसलिए साधु का यह कर्तव्य है कि वह आहार मिलने पर प्रसन्न नहीं होवे और न मिलने पर दुःखी न होवे। यदि उसे अधिक प्राप्त हो जावे तो वह उसका संग्रह न करे। उसे उन वस्तुओं से दूर रहना चाहिए जिसकी उसे अपने कार्यों के लिए आवश्यकता नहीं होती।[3] यह परिग्रह ही महाभय का हेतु है।[4] इस व्रत की पांच भावनाओं के अन्तर्गत यह बताया गया है कि साधु को पाँच इंद्रियों के अनुकूल विषयों में राग नहीं करना चाहिए और प्रतिकूल विषयों में द्वेष नहीं करना चाहिए।[5] बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१) में आया है कि याज्ञवल्क्य ने परिव्राजक होने के समय अपनी स्त्री मैत्रेयी से सम्पत्ति को उसमें और कात्यायनी में बांट देने की चर्चा की है। इससे प्रकट होता है कि उनदिनों परिव्राजकों को घर-द्वार, पत्नी एवं सारी सम्पत्ति का परित्याग कर देना पड़ता था। इसी उपनिषद् (३।५।१) में आया है कि आत्मविद् व्यक्ति सन्तान, सांसारिक सम्पत्ति, मोह, आदि छोड़ देते हैं और भिखारी का जीवन व्यतीत करते हैं।[6] संन्यास धर्म के अन्तर्गत यह स्पष्ट कहा गया है कि संन्यासी को अपने पास कोई सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिये।[7]

---

१. आचारांगसूत्र १।२।३ २. वही १।२।३
३. लद्धे आहारे—परिहरेज्जा। वही १।२।५
४. एतदेव एगेसिं महाभयं भवइ। वही १।५।२ ५. वही २।१५
६. धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग १ पृ. ४९० ७. मनु० ६।३८ याज्ञ० ३।५६

समिति

समिति शब्द के लिये अर्धमागधी भाषा में 'समिइ' शब्द का उपयोग आता है। समिइ शब्द की रचना दो शब्दों के मेल से हुई है समिअ+इ। समिअ शब्द का प्रयोग आचारांगसूत्र में 'सम्यक् प्रकार से' इस अर्थ में हुआ है।[1] इ धातु का अर्थ होता है जाना या जानना। तब हम समिइ शब्द का अर्थ कर सकते हैं—अच्छी तरह से जाना या जानना। समिइ शब्द के चार अर्थ पाइअसद्दमहण्णवो में आते हैं[2] (१) सम्यक् प्रवृत्ति (२) सभा (३) निरन्तर लड़ाई (४) मिलन।

साधु को अपनी प्रत्येक क्रिया में सावधानी का बर्ताव करना पड़ता है। उसकी प्रत्येक क्रिया में अप्रमत्तता होनी चाहिये, क्योंकि प्रमाद से हिंसा का बंध होता है। अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाओं के अन्तर्गत समितियों का वर्णन किया गया है।[3] समिति पांच प्रकार की होती है।[4] ईर्या समिति—मुनि को अपने चलने-फिरने में विशेष सावधानी रखना पड़ती है। अपने आगे पांच हाथ पृथ्वी देखकर चलना पड़ता है और अंधकार में गमन नहीं किया जाता। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि भिक्षु चलते समय अपने सामने चार हाथ जमीन पर दृष्टि रखे। रास्ते में जीव-जन्तु देखकर, उनको बचाते हुए पैर रखे। जीव-जन्तु से रहित रास्ता यदि लम्बा हो तो उसी से जावे, जीव-जन्तु वाले छोटे रास्ते से नहीं।[5]

भाषा समिति—साधु को वाणी के दोष जानकर उसे दूर करने के उपाय करना चाहिए। दस प्रकार की दुर्भाषाएं बताई गई हैं—कर्कश, पुरुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेदांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी और जीवों की हिंसा कराने वाली। आचारांगसूत्रगत भाषा समिति के ज्ञान हेतु द्वितीय श्रुतस्कंध के चौथे अध्ययन का सम्पूर्ण विवरण विस्तार से पठनीय है जिसमें भाषा समिति का प्रायोगिक रूप रखा गया है। इस पूरे अध्ययन की सामग्री को हम ४ भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

---

१. आचारांगसूत्र २।१५
२. पाइअसद्दमहण्णवो पृ० १०९१
३. आचारांगसूत्र २।१५
४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्मका योगदान पृ० २९५
५. आचारांगसूत्र २।३

(१) साधु को शब्द शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए। उसे हमेशा शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए। उसे व्याकरण शास्त्र का भी अनुभव होना चाहिए। वचन, लिंग, पुरुष और काल का ज्ञान रखना चाहिए।

(२) मात्र शास्त्र ज्ञान ही लाभप्रद नहीं होता, बल्कि साधु को व्यावहारिकता का भी ज्ञान होना चाहिए। उसे कठोर वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए और ऐसी वाणी भी नहीं बोलनी चाहिए जिससे किसी के हृदय को ठेस लगे। सब आपस में प्रेमपूर्वक अभिभाषण करें।

(३) साधु को अन्धविश्वासी नहीं होना चाहिये। वह शास्त्र-विरुद्ध वचन कदापि प्रयोग में न लावे। जल, बिजली आदि को देव न माने और न इन्हें सम्बोधित करे।

(४) साधु का कर्तव्य है कि वह क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय से युक्त वचन न बोले।

एषणा समिति—भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करना साधु की एषणा समिति है। साधु को यह ज्ञान होना चाहिए कि वह भिक्षा के लिए कहां जावे और कहां नहीं, उसे भिक्षा मांगने की विधि और समय का ज्ञान होना चाहिए। आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में पिंडैषणा एवं पानैषणा का वर्णन किया गया है। इन सबका ज्ञान एवं तदनुसार आचरण करना साधु को आवश्यक है। शय्या, आसन, उपधान, शास्त्र और उपकरण आदि को सावधानी पूर्वक देखकर उठावे और रखे। साधु की यही आदान निक्षेपण समिति है। जीव रहित पृथ्वी पर मल-मूत्र एवं श्लेष्मादि को बड़े यत्न पूर्वक क्षेपण करने वाले मुनि को उत्सर्ग समिति होती है। समिति शब्द का प्रयोग न तो आर्ष ग्रन्थों में है और न बौद्ध ग्रन्थों में। लेकिन इसके अन्तर्गत वर्णित विषय का कोई-कोई अंश कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है।

भोजन

खाद्याखाद्य विवेक

जर्मन विद्वान् याकोबी ने आचाराङ्गसूत्र के अंग्रेजी अनुवाद में कुछ सूत्रों का अर्थ मांस-मत्स्यादिपरक किया है।[1] आचारांग के टीकाकार जैनाचार्यों ने अपनी प्राकृत-संस्कृत टीकाओं में ऐसे सूत्रों के मांसपरक और वनस्पतिपरक दोनों अर्थ किये हैं। पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धिटीका में आगमिक सूत्रों के मांसपरक अर्थ का स्पष्ट विरोध है, वे लिखते हैं कि मांसादि परक अर्थ करना, यह श्रुतावर्णवाद है।

यद्यपि आचारांग आदि आगम ग्रन्थों में ऐसे सूत्र हैं जिनका सामिष अर्थ भी होता है, किन्तु इस सम्बन्ध में गहन विश्लेषण के बिना जैन संघ को मांसाहार का समर्थक मान लेना उचित नहीं होगा। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्यों पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

निर्ग्रन्थ संघ और अहिंसा

(१) निर्ग्रन्थ संघ के निर्माण की प्रक्रिया का मुख्य आधार अहिंसा है। अहिंसा के प्रति आकृष्ट होकर ही लोग निर्ग्रन्थ संघ में सम्मिलित होते थे। संघ में स्थिर हुए व्यक्तियों और संघ में प्रवेश करने वाले नये व्यक्तियों के बीच आचार-विचार का अन्तर होना स्वाभाविक है। मांस-मत्स्य आदि का व्यवहार करने वाली जातियां निर्ग्रन्थ संघ में शामिल होते ही अपने पूर्व के संस्कार पूर्णतया बदल दें, यह सर्वत्र संभव नहीं था। जन्मसिद्ध और प्रयत्नसाध्य संस्कारों के बीच में अन्तर रहना आवश्यक है।

(२) संभव था कि एक ही परिवार में कोई निरामिष भोजी निर्ग्रन्थ का उपासक हो तो कोई सामिष भोजी अन्य धर्मा का अनुयायी – एक ही कुटुम्ब की ऐसी निरामिष-सामिष भोजन की मिश्रित व्यवस्था में भी निर्ग्रन्थों को भिक्षा के लिए जाना पड़ता था।

---

१. आचारांगसूत्र २।१ । २७४-२८१

(३) कोई साहसिक निर्ग्रन्थ प्रचारक नए-नए प्रदेश में अपने निरामिष भोजन तथा अहिंसा प्रचार का ध्येय लेकर जाते थे, जहां उनको अपने अनुयायी मिलने के पहले मौजूदा खान-पान की व्यवस्था में से भिक्षा लेकर जीवन यापन करना पड़ता था।

(४) कभी कभी ऐसे भी रोगादि संकट उपस्थित हो जाते थे जबकि सुवैद्यों की सम्मति के अनुसार निर्ग्रन्थों को खानपान में अपवाद मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता था। स्पष्ट है कि सामिष आहार का विधान बिलकुल आपवादिक और अपरिहार्य स्थिति का है।

उक्त चार परिस्थितियों पर ध्यान देने से हम निम्न परिणामों पर पहुँच सकते हैं—

(क) निर्ग्रन्थ संघ की निर्माण प्रक्रिया की स्थिति में तथा अन्य आपवादिक प्रसंगों में निर्ग्रन्थ भी सामिष आहार लेते थे, इस ऐतिहासिक परिस्थिति के अवशेष आगमों में रह गये हैं।

(ख) निरामिष भोजी निर्ग्रन्थ संघ के स्थापित हो जाने पर वह आपवादिक स्थिति भी न रही और सर्वत्र निरामिष आहार सुलभ हो गया, परन्तु इस काल के निरामिष आहार ग्रहण करने के आत्यन्तिक आग्रह के साथ पुराने सामिष आहार सूचक सूत्र आगम साहित्य में यथावत बने रहे और उनमें परिवर्तन करना उचित नहीं माना गया।

(ग) अहिंसा और सामिष आहार सम्बन्धी असंगति का निवारण करने हेतु उनको वनस्पतिपरक अर्थ किया जाने लगा और पुराने तथा नए अर्थ साथ ही साथ स्वीकृत हुए।

(घ) जब इतर कारणों से निर्ग्रन्थ संघ में फूट पड़ गई तब एक दल ने आगमों के बहिष्कार में सामिष आहार सूचक सूत्रों की दलील भी दूसरे दल के सामने तथा सामान्य जनता के सामने रखी।

प्राचीन वैदिक परम्परा मांसाहार की परम्परा थी। धर्मसूत्रों में कतिपय पशुओं, पक्षियों एवं मछलियों के मांस भक्षण के विषय में नियम दिए गए हैं। प्राचीन ऋषियों ने देवयज्ञ, मधुपर्क एवं श्राद्ध में

पशु बलि की व्यवस्था दी है। मनु[1] ने केवल मधुपर्क, यज्ञ, देवकृत्य एवं श्राद्ध में पशु हनन की आज्ञा दी है। उन्होंने आगे लिखा है कि जब प्राण संकट में हो (अकाल या रोग के कारण) तो मांस भक्षण में पाप नहीं लगता।[2] यही बात याज्ञवल्क्य[3] ने कही है। परन्तु श्रमण धारा के अहिंसक संस्कारों से वैदिक धारा भी प्रभावित हुई। स्वयं मनु ने अपना निष्कर्ष देते हुए कहा है[4] कि मांस-भक्षण, मद्यपान एवं मैथुन में कोई दोष नहीं है क्योंकि ये मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं, कुछ अवसरों पर कुछ लोगों के लिए ये शास्त्रानुमोदित हैं, किन्तु इनसे दूर रहने पर महाफल की प्राप्ति होती है। कालान्तर में श्रमण धारा के प्रभाव से मांस-भक्षण के प्रति न केवल अनिच्छा, प्रत्युत घृणा का भाव भी रखा जाने लगा। शतपथब्राह्मण ने यह भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मांस भक्षी आगे के जन्म में उन्हीं पशुओं द्वारा खाया जावेगा।[5] छान्दोग्योपनिषद्[6] ने तप, दया, सरलता, अहिंसा एवं सत्य को प्रतीकात्मक यज्ञ की दक्षिणा माना है। बहुत से लोगों ने आगे चलकर मांस-भक्षण छोड़ दिया, उसके कई कारण थे, उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :—

(१) एक ही ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है।

(२) सभी जीव एक समान हैं।

(३) छोटे-छोटे कीट भी उसी दैवी शक्ति के अभिव्यञ्जन मात्र हैं।

(४) वे लोग जो अपनी वासनाओं एवं कठोर वृत्तियों तथा तृष्णाओं पर नियन्त्रण नहीं रखते और सार्वभौम दया एवं सहानुभूति प्रकट नहीं करते, दार्शनिक सत्यों का दर्शन नहीं कर सकते।

(५) मांस-भक्षण से अशुद्धि प्राप्त होती है।

सचमुच यह आश्चर्य है कि भारतवर्ष में चाहे प्राचीन काल में मांस-भक्षण की परम्परा रही हो, किन्तु आज मांस-भक्षण उत्तम नहीं

१. मनुस्मृति ५।२७-४४ २. वही ५।२७-३२
३. याज्ञ० स्मृति १।१५९ ४. मनुस्मृति ५।५३
५. शतपथब्राह्मण ११।७।१।५ ६. छान्दोग्य ३।१७।

कहा जाता। यह एक विलक्षण ऐतिहासिक तथ्य है जो संसार के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। इसके मूल में भारतीय संस्कृति की अहिंसा के प्रति निष्ठा ही है।

भिक्षाचर्या—

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भिक्षा के सम्बन्ध में निम्न निर्देश प्राप्त होता है—

भिक्षु अग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंश-कुल, ग्वाल, वैश्य, नाई और बुनकर आदि के अतिरिक्त और अनिंदित कुलों में भिक्षा मांगने के लिए जावे।[1]

जिस कुल में नित्य पिण्ड, अग्रपिण्ड, नित्यभाग या नित्यमुधार्धभाग दिया जाता है, उससे भी भिक्षु को भिक्षा नहीं लेना चाहिए।[2]

भिक्षा के लिए जाते हुए मार्ग में गढ़, टेकरी, गड्ढे, खाई, कोट, दरवाजे या अर्गला पड़ती हो तो उस मार्ग पर भिक्षु भिक्षा के लिए न जावे। यह मार्ग सीधा और छोटा हो तो भी इस पर न जावे।[3]

जिस मार्ग में भयंकर पशु खड़े हों अथवा गड्ढे, कीलें, कांटे, दरार या कीचड़ हो अथवा जहां मुर्गे, कौए आदि पक्षी और सुअर आदि जानवर बलि खाने को इकट्ठे हों उस मार्ग से होकर भी भिक्षा के लिए न जावे।[4]

गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाने पर ऐसा जान पड़े कि यहां मांस-मछली आदि का भोज हो रहा है, उसके लिए वस्तुएँ ली जा रही हैं, मार्ग में अनेक जीव-जन्तु, बीज और पानी पड़ा हुआ है और वहां श्रमण, ब्राह्मण आदि याचकों की भीड़ लगी है, वहां भिक्षा के लिए न जावे।[5]

कैसे जावे —

भिक्षु भिक्षा मांगने जाते समय अपने वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि सब पात्रों को साथ में ले जावे।

---

१. आचारांग २।१।२ २. वही २।१।२
३. वही २।१।५ ४. वही २।१।६
५. वही २।१।६

कैसे न जावे :

भिक्षु भिक्षा मांगने किसी अन्य सम्प्रदाय के साधु के साथ, गृहस्थ के साथ या अपने ही धर्म के कुशील साधु के साथ न जावे।[1]

भिक्षु भिक्षा मांगने जाते समय गृहस्थ के घर श्रमण, ब्राह्मण आदि याचकों को अपने से पहले ही भीतर देखकर उनको लांघकर भीतर न जावे।[2]

कब जावे :—

गृहस्थ के घर भिक्षा मांगने जाने पर मालूम हो कि अभी गायें दुही जा रही हैं, भोजन तैयार हो रहा है और दूसरे याचकों को अभी कुछ नहीं दिया गया तो भीतर न जावे।[3]

●

१. आचारांग २।१।१ २. वही २।१।५
३. वही २।१।४

८ | भगवान् महावीर का जीवन

जैनधर्म के काल चक्र के १२ विभाग—किये गये हैं।[1] आचाराङ्ग-सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध[2] में अवसर्पिणी काल का उल्लेख है। अवसर्पिणी काल उसे कहते हैं जिसमें आयु, बल, शरीर आदि सब चीजों में क्रमशः न्यूनता आती जाती है। इसके विपरीत उत्सर्पिणी काल में इन सब चीजों में क्रमशः वृद्धि होती जाती है।[3] अवसर्पिणी काल सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा इन छह भेदों वाला कहा गया है। उत्सर्पिणी काल भी इनसे उल्टे क्रम में छह प्रकार का होता है। इस प्रकार कालचक्र के १२ विभाग होते हैं।

आचाराङ्ग के अनुसार भगवान् महावीर ने वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौथे दुषमा-सुषमा की समाप्ति के ७५ वर्ष ८॥ मास शेष रहने पर ग्रीष्म काल के चौथे मास आषाढ़ शुक्ल षष्ठी को गर्भ में पदार्पण किया था।[4] महावीर पहले देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी में आए, फिर ८२ दिन व्यतीत हो जाने पर देवता ने महावीर के गर्भ को दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में ज्ञातृ-क्षत्रिय, काश्यप-गोत्रीय सिद्धार्थ की वशिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में अशुभ पुद्गलों को दूर कर और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करके रखा और त्रिशला की कुक्षि में जो गर्भ था, उसको दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश में रहने वाले कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा की कुक्षि में स्थापित किया।[5]

---

१. लघुक्षेत्रसमास, गाथा ९०। २. आ० सू० २, भावना
३. लोकप्रकाश, सर्ग २९ श्लोक ४४-४५।
४. आ० सू० २, भावना
५. वही

गर्भापहार—कल्पसूत्र[1] और आवश्यक-निर्युक्ति[2] में भी गर्भापहार का वर्णन पाया जाता है। विशेष उल्लेखनीय यह है कि आचाराङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में महावीर के जीवन विहार-यात्रा और तप साधना की अभिनिष्क्रमण के बाद की विशेष घटनाओं, का वर्णन है जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में उनके सम्पूर्ण जीवनवृत्त का उल्लेख है। गर्भापहार की घटना का उल्लेख द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। गर्भापहार एक आश्चर्य मिश्रित विवाद-ग्रस्त विषय है इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विचार धाराएं प्रचलित हैं—

१. साम्प्रदायिक विद्वानों एवं भक्तों की दृष्टि।
२. ऐतिहासिक दृष्टि

प्रथम विचारधारा अपने इष्टदेव को असाधारण मानती है और उसमें देवत्व के दर्शन करना चाहती है। इस विचार धारा को मानने वाले अपने मत की पुष्टि में शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। स्थानांग,[3] कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका[4] एवं प्रवचनसारोद्धार टीका[5] में १० आश्चर्यों का वर्णन मिलता है जिनमें गर्भापहरण भी एक है। इस प्रमाण से गर्भापहरण आश्चर्यजनक अपवादिक घटना की कोटि में जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में भगवान् और गौतम गणधर का संवाद मिलता है जिसमें गर्भापहार की पूर्ण विधि का उल्लेख है।

पुरातत्व में गर्भ परिवर्तन—

महावीर के गर्भपरिवर्तन की मान्यता नई नहीं है। इसका प्रमाण पुरातत्व की सामग्री से भी प्राप्त होता है। एपिग्राफियाइंडिका, खंड २ में मुद्रित प्लेट नं० २ के फलक, जिसमें महावीर के गर्भ परिवर्तन की घटना उत्कीर्ण है,के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि यह ईस्वी

---

१. कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सूत्र २७ पत्र ९१-९५।
२. आचारांग निर्युक्ति पृ० ८०-८३।
३. स्थानांग भाग २ सूत्र २७७
४. कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, व्याख्यान २ पत्र ६४
५. प्रवचनसारोद्धार टीका, उत्तर भाग पृ० २५६

सन् के प्रारम्भ या उससे भी प्राचीन है।[1] आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, वाल्युम २० में प्रकाशित प्लेट नं० १८ के सम्बन्ध में डा० बुहलर ने लिखा है कि "इसमें कल्पसूत्र में वर्णित महावीर के गर्भ-परिवर्तन का चित्रण है।[2] हरिनेगमेषी नामक देव ने यह कार्य सम्पन्न किया था। इस नाम का उल्लेख न केवल जैन ग्रन्थों में प्राप्त है वरन् हिन्दू ग्रंथों में भी है। स्थानांगसूत्र[3] में इन्द्र की सेना के सेनापति को हरिनेगमेषी कहा गया है। लोकप्रकाश[4] में भी इसके कार्य का उल्लेख मिलता है। वैदिक ग्रन्थों में हरिनेगमेषी को पुत्रदाता माना जाता है। गृह्यसूत्र में इसका उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है, "हे नेगमेष, उड़ जाओ फिर उड़कर यहाँ आओ और मेरी पत्नी के लिए सुन्दर पुत्र लाओ। मेरी पत्नी को पुत्र की कामना है उसे गर्भ दो और गर्भ में पुत्र रहे।"[5] अन्तगडदसाओ[6] में भी हरिनैगमेष के द्वारा पुत्र प्रदान और गर्भापहार के उल्लेख हैं। श्री मद्भागवत[7] में एक कथानक आता है कि 'जब योगमाया ने देवकी का गर्भ ले जाकर रोहिणी के उदर में रख दिया तब पुरवासी बड़े दुख के साथ आपस में कहने लगे-हाय बेचारी देवकी का यह गर्भ तो नष्ट ही हो गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में गर्भ परिवर्तन एवं हरिनैगमेष का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर प्रथम पक्ष के विद्वान् अपने मत की पुष्टि करते हैं। गर्भपरिवर्तन के सम्बन्ध में हरमन जाकोबी की टिप्पणी पठनीय है, उन्होंने लिखा है[8] "दिगम्बर लोग इसे असत्य समझते हैं और नहीं मानते किन्तु श्वेताम्बरों को इसकी सत्यता में दृढ़ विश्वास है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कथा प्राचीन है क्योंकि इसका उल्लेख आचाराङ्गसूत्र, कल्पसूत्र तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता

१. जैन स्तूप एण्ड अदर एंटीक्विटीज आव मथुरा पृ० २५
२. एपीग्राफिका-इण्डिया का खंड २ पृ० ३१४
३. स्थानांगसूत्र ५८२
४. लोकप्रकाश सर्ग, २६ पत्र ३३४-३५
५. तीर्थंकर महावीर पृ० ११९
६. अन्तगडदसाओ पृ० ११
७. भागवत २।१५ ८. सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट जिल्द २२ भूमिका पृ० ३१।

है, इस अन्धकारावृत विषय पर मैं अपनी सम्मति प्रकट करने की आज्ञा चाहता हूँ। मेरा अनुमान है कि सिद्धार्थ की दो पत्नियां थीं एक ब्राह्मणी देवानन्दा, जो महावीर की वास्तविक माता थी और दूसरी क्षत्रियाणी त्रिशला। देवानन्दा के पति का नाम ऋषभदत्त अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होता है। प्राकृत भाषा के नियमानुसार उसभदत्त के स्थान पर उसभदिन्न होना चाहिए। इसके सिवाय यह नाम ऐसा है जो केवल जैन को ही दिया जा सकता है, ब्राह्मण को नहीं। अतः कालान्तर में जैनों ने देवानन्दा के दूसरे पति के लिए ऋषभदत्त नाम का आविष्कार किया। अब सिद्धार्थ को लीजिए। त्रिशला के साथ विवाह होने से उच्चवंशीय तथा महान प्रभुत्वशाली व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध हो गया इसलिए सम्भवतया यह प्रकट करना कि महावीर त्रिशला के दत्तक पुत्र नहीं बल्कि औरस पुत्र हैं, अधिक लाभदायक समझा गया, क्योंकि इससे महावीर त्रिशला के सम्बन्धों का उत्तराधिकार प्राप्त कर सकता था, और जब महावीर तीर्थङ्कर हुए तब उनके माता-पिता को स्वर्गवास हुए बहुत वर्ष व्यतीत हो चुके थे, इसलिए यह कथा सरलता से प्रसारित की जा सकी। किन्तु मनुष्यों की स्मृति से वास्तविक स्थिति को मिटा सकना शक्य नहीं था, इसलिए गर्भपरिवर्तन की कथा का आविष्कार किया गया।

गर्भ परिवर्तन का विचार जैनों की मौलिक रचना नहीं है किन्तु स्पष्ट ही यह विचार उस पौराणिक कथा की प्रतिकृति है जिसके अनुसार वसुदेव को देवकी के गर्भ से रोहणी के गर्भ में परिवर्तित किया गया था। इस टिप्पणी के सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वान् पं० कैलाशचन्द शास्त्री का कथन है "महावीर के गर्भ परिवर्तन की समस्या सुलझाने के लिए हरमन जैकोबी को भी क्लिष्ट कल्पना का ही आश्रय लेना पड़ा है किंतु इसके मूल में हमें तो ब्राह्मणत्व और क्षत्रित्व के बीच में बड़प्पन को लेकर उठे प्राचीन विरोध का ही आभास प्रतीत होता है। जैन और बौद्ध दोनों ही ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को अधिक आदर प्रदान करते थे। इतना ही नहीं वे ब्राह्मण वंश को निम्नकुल तक का मानते थे।[1] पं० सुखलाल संघवी ने भी अपने ढंग से इस पर विचार

१. जैन साहित्य का इतिहास पृ० २४१

दिन[3] महावीर को जन्म दिया था। जिस समय महावीर का जन्म हुआ था उस समय भी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र[4] का उदय था। आषाढ़ शुक्ल षष्ठी[5] को महावीर गर्भ में आए थे। उसके ८३ दिन बाद गर्भ परिवर्तन किया गया था।[6] गर्भ के ९ मास साढ़े ७ दिन बाद जन्म हुआ था। साधारणतः नक्षत्रों के एक चक्र के पूर्ण होने में २७ दिन लगते हैं तो १० वें चक्र की पूर्ति पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के हिसाब से जन्म की यह तिथि सही प्रतीत होती है।

नामकरण—नवीन बालक का नामकरण-संस्कार जन्म के बाद १२ वें दिन किया गया। राजा सिद्धार्थ ने कहा—जब से यह बालक हमारे कुल में उत्पन्न हुआ तब से हमारे कुल में धन-धान्य, कोश, काष्ठागार, बल, स्वजन और राज्य में वृद्धि हुई है अतः हम इस बालक का नाम वर्द्धमान रखेंगे। इस प्रकार उनका वर्द्धमान ऐसा नामकरण हुआ। किन्तु आगे चलकर उनके गुणों के कारण उन्हें अन्य नाम भी दिये गये। यथा—

माता पिता का रखा हुआ नाम—वर्द्धमान[5]
वैराग्य आदि गुणों से प्राप्त नाम—श्रमण
वीरता एवं उपसर्ग सहन करने के कारण प्राप्त नाम—महावीर

बौद्ध ग्रन्थों में[6] महावीर को निगंठनाटपुत्त के नाम से सम्बोधित किया गया है। 'निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र' यह इसका संस्कृत रूप है। प्राचीन काल में वंश के नाम से भी लोगों का परिचय दिया जाता था। महात्मा बुद्ध शाक्य वंश के थे, इस कारण वे शाक्य पुत्र कहलाए। भगवान् महावीर ज्ञातृ कुल के थे, इस कारण वे ज्ञातृ-पुत्र (नात-पुत्त) कहलाये। शाक्यपुत्र (बुद्ध) के अनुयायी श्रमण शाक्यपुत्रीय[7] और

१. तीर्थंकर महावीर पृ० १३५।
२. आचारांग २।१५
३. तीर्थंकर महावीर पृ० १०२
४. आचारांग २।१५
५. तीर्थंकर महावीर पृ० १३९
६. जैन साहित्य के इतिहास पूर्व पीठिका पृ० २२२ बु० च० पृ० ४८१
७. बु० च० पृ० ५५१

ज्ञातृपुत्र महावीर के अनुयायी साधु ज्ञातृपुत्रीय कहलाते थे। पालि ग्रन्थों में जैन साधुओं का उल्लेख प्रायः इसी नाम से हुआ है। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भगवान् महावीर के वंश का नाम 'नाथ वंश' लिखा है। 'नाथ' शब्द 'ज्ञातृ' शब्द का शौरसेनी प्राकृत रूप है।

जन्मस्थान—महावीर के जन्मस्थान के सन्दर्भ में तीन नामों का उल्लेख मिलता है—

१. वाणिज्यग्राम—यह वैशाली में स्थित एक प्रसिद्ध नगर था।
२. कुण्डग्राम—यह भी वैशाली में ही स्थित था।
३. वैशाली—मूल वैशाली, वाणिज्यग्राम और कुण्डग्राम इन तीनों का समूह था।

भगवान् महावीर का जन्म स्थान कुण्डपुर या कुण्डग्राम माना गया है। यह बात श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों को मान्य है। लेकिन कुण्डग्राम की स्थिति के बारे में हर्मन जैकोबी ने लिखा है 'बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग में हम पढ़ते हैं कि जब बुद्ध कोटिग्राम में थे तब वैशाली के लिच्छिवि और गणिका अम्बपाली उनके दर्शनार्थ आये थे। कोटिग्राम से वे नातिकाओं के निवास स्थान पर आये। वहां अम्बपाली का आम्रपाली नामक उद्यान था। नातिका से बुद्ध वैशाली गए जहाँ उन्होंने निर्ग्रन्थों के गृहस्थ शिष्य सेनापति सिंह को बौद्धधर्म में दीक्षित किया।' अतः यह बहुत कुछ संभव है कि बौद्धों का कोटिग्राम ही जैनों का कुण्डग्राम हो। नामों की समानता के सिवाय नातिकाओं का निर्देश भी इसी का समर्थन करता है—क्योंकि नातिका स्पष्ट ही ज्ञातिक क्षत्रियों का सूचक है। महावीर इन्हीं ज्ञातृक क्षत्रियों के वंशज थे। अतः सम्भवतः कुण्डग्राम विदेह की राजधानी वैशाली के उपनगरों में से था। महापरिनिब्बानसुत्त में लिखा है कि बुद्ध पाटलिग्राम में गंगा नदी को पार करके कोटिग्राम आए। कोटिग्राम से नादिका और नादिका से वैशाली आये। इस तरह पाटलिपुत्र से वैशाली के रास्ते पर गंगा पार करना होता था। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुण्डपुर या कुण्डग्राम वैशाली के निकट होना चाहिए। बौद्ध ग्रंथों में जिस कोटिग्राम का वर्णन किया गया है, यही जैनों का कुण्डग्राम होना चाहिए। आधुनिक अन्वेषकों का मत है

कि मुजफ्फरपुर जिले में स्थित वसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है। इस समय कुण्डग्राम को वसुकुंड कहा जाता है।

प्रव्रज्या—'तीस वर्ष की अवस्था में मार्गशीर्ष वदी दशमी के दिन महावीर ने समस्त परिग्रह को त्यागकर जिन दीक्षा ले ली, परन्तु श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर अपने कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र रखकर प्रव्रजित हुए। भगवान् महावीर के मन में ऐसी भावना नहीं थी मैं इस दिव्य वस्त्र से अपने शरीर को शीत से बचाऊँगा या इसमें अपनी लज्जा का निवारण करूँगा, क्योंकि भगवान् तो वस्त्र बिना शीत परीषह को सहन करने में समर्थ थे, फिर भी वह वस्त्र उनके कंधे पर रखा रहा, उसका कारण यह था कि वह उनका धार्मिक कर्त्तव्य था क्योंकि अतीत काल में जो तीर्थङ्कर प्रव्रजित हुए, वर्तमान में जो प्रव्रजित होते हैं तथा भविष्य में जो प्रव्रजित होंगे, उन सबने इसका पालन किया है'।[1]

तपस्या और ज्ञानलाभ—आचाराङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के नवम अध्ययन में महावीर की तप साधना का वर्णन आया है। यहां महावीर ने हेमन्त ऋतु में दीक्षा लेकर विहार कर दिया।[2] कुछ अधिक चारमास तक बहुत से प्राणियों ने उनके शरीर को कष्ट दिया[3] यहाँ तक कि बालकों ने मिलकर उनके शरीर पर धूल भी फेंकी।[4] मैथुन का उन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया।[5] वे प्रशस्त ध्यान में लीन रहते थे, मौन रहते थे, किसी के पूछने या न पूछने पर भी वे नहीं बोलते थे। अनार्य लोग इन्हें डण्डों से पीटते थे, उनके बाल नोचते थे। कठोर वचन बोलते थे।[6] वे निर्दोष अहिंसा का आचरण करते थे और निर्दोष आहार ग्रहण करते थे। पर वस्त्र और पात्र को स्वीकार नहीं करते थे।[7] रसों में आसक्ति नहीं रखते थे।[8] वे आंख

---

१. आचारांग सूत्र १।९।२ २. वही १।९।१
३. वही ३ ४. वही ५
५. वही ६ ६. वही ८।९
७. वही २० ८. वही २०

को भी प्रमार्जित नहीं करते थे और न शरीर को खुजलाते थे।[1] उन्होंने अपने शरीर का मोह बिल्कुल दूर कर दिया था, उन्होंने शून्य घर, सभा, प्याऊ तथा दुकानों में निवास किया था। कभी-कभी श्मशान और वृक्ष के नीचे ही रहे।[2] वे सब स्थानों में संयम में उद्यत होकर रहते थे। अधिक नींद नहीं लेते थे।[3] वे उपसर्गों को भी समतापूर्वक सहन करते थे। ध्यान में लीन रहते थे।[4] शीत परीषह को सहन करते थे। महावीर ने तीक्ष्ण, स्पर्श, ठण्ड, गर्मी और डांस मच्छर के डंक आदि विविध परीषहों को समभाव पूर्वक सहन किया था।[5] लाढ़ देश के अनार्य लोगों ने भगवान् को कई प्रकार के कष्ट दिए। कुत्तों से वे उन्हें कटा देते थे। लकड़ी, मुट्ठी या भाले की नोंक से वे भगवान् को कष्ट देते थे। ये अनार्य लोग भगवान् को ऊँचा उठाकर-नीचे पटक देते थे।[6] जिस प्रकार संग्राम के अग्रभाग पर कवच से रक्षित शूरवीर शस्त्रों से छिन्न-भिन्न नहीं होता उसी प्रकार भगवान् महावीर भी मेरु की भांति अचल रहकर संयममार्ग में विचरण करते रहे।[7] भगवान् निरोग होने पर भी अल्प भोजन करते थे। रोग होने पर भी चिकित्सा की अभिलाषा नहीं रखते थे। विरेचन, वमन, शरीर पर तेल मर्दन, स्नान, हाथ-पैर दबाना, दांत साफ करना उन्हें नहीं कल्पता था। विषयों से वे विरक्त थे।[8] उन्होंने आठ मास तक चावल, बेरचूर्ण और कुल्माष का सेवन किया।[9] वे निर्दोष आहार लेते थे तथा रूखा-सूखा आहार मिलने पर या न मिलने पर समभाव रखते थे। भगवान् महावीर कषाय एवं आसक्ति से रहित, तथा शब्द और रूप में निर्विकार होकर ध्यान करते थे।[10] भगवान् महावीर १२ वर्ष ६ मास और १४ दिन साधक अवस्था में रहे। इन दिनों की कुल संख्या ४५१४ होती है। इन दिनों में से ४१६५ दिन भगवान् निराहार रहे,

१. आचारांग २०
२. वही १।९।२।२,३
३. वही ९।
४. वही ७।८
५. वही १।९।३।१
६. वही ४
७. वही ८
८. वही १।९।४।२
९. वही ४
१०. वही १५

शेष ३४९ दिन पारणा-दिवस रहे।[1] भगवान् महावीर की तपस्या का वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति,[2] महावीरचरियं,[3] त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र[4] आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। तपस्याकाल में महावीर ने १२ चातुर्मास किए। जब भगवान् की तपस्या का १३ वां वर्ष चल रहा था तो मध्यम पावा के उद्यान से विहार करते हुए वे जंभियग्राम पधारे। यहां ग्रीष्मकाल के दूसरे महीने वैशाख शुक्ल दशमी के दिन रविवार को विजय नामक मुहूर्त में जंभियग्राम के बाहर उज्जुवालुया नामक नदी के उत्तर तट पर श्यामक नाम के कौटुम्बिक के खेत में, शालवृक्ष के नीचे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के उदय में महावीर को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ।[5]

भगवान् महावीर का निर्वाण काल :—भगवान् महावीर के निर्वाण-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। यह मत-भेद आधुनिक नहीं है। प्राचीन जैन साहित्य में भी हमें इसमतभेद के दर्शन होते हैं। प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति[6] में चार मतों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार षट्खंडागम[7] में भी तीन मतों का निर्देश है।

दोनों ग्रन्थों में वर्णित एक मत के अनुसार वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह बाद शक राजा हुआ। इसी मत के समर्थन में श्वेताम्बराचार्य मेरुतुंग[8] ने बतलाया है कि महावीर निर्वाण से ६०५ वर्ष के बाद शक सम्वत् की प्रवृत्ति हुई। शक सम्वत् और विक्रम सम्वत् में १३५ वर्ष का अन्तर है। ६०५ वर्ष में से १३५ वर्ष घटाने पर ४७० वर्ष बचते हैं। यही वीर निर्वाण के बाद विक्रम संवत् की

१. विजयेन्द्रसूरि ने दिन संख्या और पारणा संख्या में एक दिन की वृद्धि बताया है—पृ० २५२
२. आचारांग चूर्णि पत्र २७१ से ३२२।
३. महावीरचरियं नेमिचन्द्ररचित पृ० ३५ से ४८ तक
४. पर्व १० सर्ग ३।४; आवश्यकचूर्णि पृ० ३२२।
५. आचारांग (मधुकरमुनि) २।१५।७७२ पृ० ३६५-३६६।
६. तिलोयपण्णत्ति ४।१४९६-९९।
७. षट्खण्डागम, पुस्तक ९ पृ० १३२-१३३।
८. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृष्ठ २८४।

प्रवृत्ति का काल है। इस प्रकार विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ होने से ४७० वर्ष पहले तथा ईस्वी सन् से ५२७ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ।

हरमन जैकोबी इस काल निश्चय से सहमत नहीं हैं। इस मत में चार्ल शार्पेन्टियर[1] ने कुछ कठिनाइयाँ प्रस्तुत की हैं—

प्रथम तो यह कि मेरुतुंगाचार्य आदि ने विचारश्रेणी आदि ग्रन्थों में जो प्राचीन गाथाएँ दी हैं उनमें निर्दिष्ट राजाओं जैसे पालक और नन्द में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह महावीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद जिस विक्रम राजा के होने का उल्लेख है, का इतिहास में कोई अस्तित्व नहीं है। अतः यह काल गणना प्रामाणिक नहीं है।

दूसरे बौद्ध साहित्य से प्रकट है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे किन्तु कुछ बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध का निर्वाण ई० सन् से ४७७ वर्ष पूर्व हुआ था। यदि महावीर का निर्वाण ई० सन् से ५२७ वर्ष पूर्व हुआ माना जाये तो बुद्ध एवं महावीर की समकालीनता सिद्ध नहीं होती है।

यह भी कहा जाता है कि महावीर और बुद्ध दोनों ही अजातशत्रु के राज्यकाल में विद्यमान थे। अजातशत्रु बुद्ध के निर्वाण से आठ वर्ष पूर्व राजगद्दी पर बैठा था और उसने ३२ वर्ष तक राज्य किया था। यदि प्राचीन गाथाओं के अनुसार महावीर का निर्वाण काल निश्चित किया जाता है तो अजातशत्रु की काल सम्बन्धी ऐतिहासिकता समाप्त हो जाती है। अतः भगवान् महावीर का निर्वाण काल और इधर लाना चाहिए या भगवान् बुद्ध के निर्वाण समय को पीछे ले जाना चाहिए। परन्तु बुद्ध का निर्वाण काल तो ठीक गणना के अनुसार है जबकि महावीर का निर्वाण काल अनुमान के आधार पर कल्पित है। अतः उसमें ६० वर्ष कम कर देना चाहिए और उसे ई० पू० ४७७ मानना चाहिए। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल ने उक्त मत से अपनी असहमति बताते हुए लिखा है[2] :—

(१) अंगुत्तरनिकाय में लिखा है कि महावीर-निर्वाण के समय बुद्ध जीवित थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण से २१९ वर्ष पूर्व

१. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, ४३वां भाग

२. जर्नल आफ उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, सितम्बर १९१५।

महावीर ने निर्वाण पाया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त महावीर-निर्वाण से २१९ वर्ष पश्चात् और बुद्ध-निर्वाण से २१८ वर्ष पश्चात् गद्दी पर बैठा। इस तरह जैनों की काल गणना के अनुसार चन्द्रगुप्त ईस्वी सन् ३२६ वर्ष पूर्व गद्दी पर बैठा। इसमें चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से पहले के २१८ वर्ष जोड़ने से ईस्वी पूर्व ५४४ वर्ष आता है। यही बुद्ध के निर्वाण का समय है। सीलोन, बर्मा और स्याम की दन्तकथाओं के अनुसार भी बुद्ध-निर्वाण का यही काल आता है।

(२) डा० हर्नले, सरस्वती गच्छ की पट्टावली की १८ वीं गाथा के आधार पर विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ काल में ४७० वर्ष पश्चात् १६ वर्ष बढ़ाते हैं। गाथा का अर्थ यह है कि विक्रम १६ वर्ष की उम्र तक गद्दी पर नहीं बैठा अर्थात् १७ वें वर्ष में उसका राज्याभिषेक हुआ। इसका यह तात्पर्य हुआ कि महावीर-निर्वाण के ४८७ वर्ष पश्चात् विक्रम गद्दी पर बैठा। इसका परिणाम यह निकला कि जैनों ने विक्रम संवत् के प्रथम वर्ष (ई० स० पूर्व ५८-५७) के अन्त में और महावीर निर्वाण के पश्चात् ४७० वर्ष पूरा होने के बीच में १८ वर्ष का अन्तर छोड़ दिया।

(३) प्रद्योत के समय से लेकर शक राज्य और विक्रम संवत् तक की जैन[1] काल गणना इस प्रकार है--जिस रात्रि में महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि में पालक अवन्ती की गद्दी पर बैठा। पालक के राज्य के ६० वर्ष पश्चात् नन्दों के राज्य का काल १५५ वर्ष बतलाया गया है। पुराणों के अनुसार नन्दिवर्धन से लेकर अन्तिम नन्द पर्यन्त १२३ वर्ष होते हैं। इतने वर्षों तक नन्दों ने राज्य किया। ३२ वर्ष जो अधिक हैं, वे हमें उदायी के राज्य से पहले अथवा दूसरे वर्ष के आगे लाकर छोड़ देते हैं। अर्थात् पालक वंश के पश्चात् एक दूसरी काल उदायी के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। किन्तु पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के छठें वर्ष (पालक का राज्यारोहणकाल) और उदायी के राज्याभिषेक के बीच में अपने को ६४ वर्ष का अन्तराल छोड़ना चाहिए। जबकि जैन काल गणना के अनुसार पालक का राज्यकाल

१. विचारश्रेणी १-३

६० वर्ष ही है। इस तरह चन्द्रगुप्त के समय में पुनः ४ वर्ष का अन्तर आ जाता है और इससे चन्द्रगुप्त महावीर के निर्वाण के २१५ अथवा २१९ वर्ष पश्चात् गद्दी पर बैठा। मौर्यों के राज्यकाल को दो वर्ष-समूहों में विभाजित कर दिया है १०८ और ३०। उसमें १०८ वर्ष मौर्य वंश के हैं और ३० वर्ष पुष्यमित्र के। तदनन्तर बलमित्र, भानु-मित्र के ६० वर्ष सम्मिलित किए गये हैं। इस गणना के अनुसार हम महावीर निर्वाण के पश्चात् ४१३ वर्ष तक पहुँच जाते हैं। इसके पश्चात् ४० वर्ष नहपान का राज्यकाल बतलाया गया है। फिर १३ गर्दभिल्ल और ४ शक राजा के हैं—इनका योग ४७० होता है। विक्रम संवत् और इस गणना का परस्पर सम्बन्ध मिलाने से १८ वर्ष का अन्तर आता है। हेमचन्द्राचार्य द्वारा मान्य जिस काल गणना को आधार मानकर जैकोबी तथा शार्पेन्टियर ने प्रचलित वीर निर्वाण संवत् में ६० वर्ष घटाने का सुझाव दिया था, उसका विरोध करते हुए जायसवाल ने लिखा था, "हेमचन्द्र ने अपनी काल गणना में जो पालक के ६० वर्ष छोड़ दिए हैं, यह उनकी एक मोटी भूल है, क्योंकि यदि हम प्रारम्भ के ६० वर्षों को छोड़ देते हैं तो चन्द्रगुप्त, स्थूलभद्र, सुबाहु और भद्रबाहु की समकालीनता में विरोध आता है और प्रो० जैकोबी ने हेमचन्द्र की इस भूल को अपनी गणना का आधार बनाया है और ऐसा करने में पाली लेखों में आए हुए अशोक के समय का और उसके ऊपर बांधी गई निर्वाण काल गणना का उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा है। पाली लेखों में दिए हुए समय के आधार पर की गई गणना से उन लेखों में लिखी हुई अशोक के अभिषेक की तारीख तथा पूर्व परम्परा से चली आती हुई तारीख के मध्य में लगभग ६० वर्ष का अन्तर है। हेमचन्द्राचार्य की भूल से जैन काल गणना में भी ६० वर्ष छूट जाने से इन दोनों गणनाओं की एकता ने उक्त विद्वानों के मत को बल दिया है। परन्तु प्रद्योत का पुत्र पालक, जो अजातशत्रु का समकालीन था, महावीर-निर्वाण के दिन गद्दी पर बैठा यह मानना स्वाभाविक और सप्रमाण है। हेमचन्द्राचार्य के कथन के अनु-सार महावीर-निर्वाण के पश्चात् तुरन्त ही नन्दवंश का राज्य शुरू हुआ, यह मान्यता सर्वथा भूलभरी और अप्रामाणिक है।"

इस प्रकार प्रचलित निर्वाण संवत् में डा० जैकोबी और चार्ल्स शार्पेन्टियर के द्वारा बतलाई गई ६० वर्ष की भूल को भ्रमपूर्ण बतलाते हुए स्व० जायसवाल ने १८ वर्ष बढ़ाने की जो सम्मति दी है, उसका आधार इस प्रकार है—महावीर के निर्वाण से गर्दभिल्ल तक ४७० वर्ष का अन्तर जिन गाथाओं में है, उन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मानते हैं। किन्तु जैनों के सरस्वतीगच्छ की पट्टावली में विक्रम संवत् और विक्रम जन्म में १८ वर्ष का अन्तर माना है। यथा—"वीतराग ४९२ विक्रम-जन्मान्तर वर्ष २२ राज्यान्त वर्ष ४।" विक्रम विषयक गाथा की भी यही ध्वनि है कि १७वें या १८वें वर्ष में सिंहासन पर बैठे, इससे सिद्ध है कि ४७० वर्ष जो वीर निर्वाण से गर्दभिल्ल राजा के राज्यन्त तक माने जाते हैं, वे विक्रम जन्म तक हुए। अतः विक्रम जन्म [महावीर निर्वाण ४७०] में १८ वर्ष और जोड़ने पर निर्वाण का वर्ष विक्रम संवत् से ४८८ वर्ष पूर्व निकलता है। १८ वर्ष का फर्क गर्दभिल्ल और विक्रम संवत् के बीच गणना छोड़ देने से उत्पन्न हुआ मालूम होता है। यह बात याद रखने की है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे। बौद्ध सूत्रों में लिखा है कि जब बुद्ध शाक्य जनपद की ओर जा रहे थे तब उन्हें सूचना मिली कि पावा में महावीर का निर्वाण हो गया। इसलिए प्रचलित वीर निर्वाण संवत् में १८ वर्ष जोड़ देने से यह मिलान स्पष्ट हो जाता है कि महावीर बुद्ध के पहले निर्वाण को प्राप्त हुए। नहीं तो बुद्ध निर्वाण से महावीर का निर्वाण १६-१७ वर्ष पश्चात् सिद्ध होगा, जो प्राचीन सूत्रों के कथन के विरुद्ध होगा।

श्री जायसवाल के इस कथन की समीक्षा पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने की है—उनका कथन है[1] कि मेरुतुंग की विचारश्रेणी में जो काल गणना दी गयी है वह इस प्रकार से है :—

महावीर निर्वाण से ६० वर्ष तक पालक
१५५ वर्ष नन्द
१०८ वर्ष मौर्य

---

१. अनेकान्त, वर्ष १, जिल्द १, पृ० २१-२२।

३० वर्ष पुष्यमित्र
६० वर्ष बलमित्र-भानुमित्र
४० वर्ष नभोवाहन
१३ वर्ष गर्दभिल्ल
४ वर्ष शक राज्य

कुल ४७० वर्ष

श्वेताम्बरों में यही काल गणना मानी जाती है। परन्तु श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के राजा पालक का जो ६० वर्ष समय बतलाया है उसी समय मगध के सिंहासन पर श्रेणिक का पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) और कुणिक के पुत्र उदायी का राज्य क्रमशः रहा है। उदायी के निःसन्तान मर जाने पर उसका राज्य नन्द को मिला। इसी से परिशिष्टपर्व में भगवान् महावीर से ६० वर्ष बाद नन्द राजा का होना लिखा है।[1] इसके पश्चात् मौर्य वंश के प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त का राज्यारम्भ बतलाते हुए वह श्लोक दिया है जिसके आधार पर चार्ल शार्पेन्टियर ने यह माना कि महावीर निर्वाण से १५५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त राजा हुआ।[2] विचारश्रेणी की गाथा में १५५ वर्ष का समय केवल नन्दों का बतलाया है और उसमें ६० वर्ष पहले पालक का समय दिया है। अतः उसके अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण काल वीर निर्वाण से २१५ वर्ष बाद होता है। परन्तु हेमचन्द्र ने १५५ वर्ष बाद बतलाया है अतः ६० वर्ष का अन्तर पड़ता है। हेमचन्द्र ने ६० वर्ष की यह कमी नन्दों के राज्यकाल में की है, उनका राज्यकाल ९५ वर्ष बतलाया है, क्योंकि नन्दों के पहले उनके और वीर निर्वाण के बीच में ६० वर्ष का समय उन्होंने कुणिक आदि राजाओं का माना है। ऐसा मालूम होता है कि पहले से वीर निर्वाण के बाद १५५ वर्ष के भीतर नन्दों का होना माना जाता था परन्तु

१. तदन्तरं वर्धमानस्वामि निर्वाण वासरात्।
गतायां षष्ठिवत्सरीमेव नन्दो भवन्नृपः। ६।२४३

२. एवं श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते।
पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तो भवन्नृपः। ८।३३९

उसका यह अभिप्राय नहीं था कि वीर-निर्वाण के ठीक बाद नन्दों का राज्य प्रारम्भ हुआ। बल्कि उससे पहले उदायी तथा कुणिक का राज्य भी उसमें शामिल था। परन्तु पीछे से १५५ वर्ष की गणना अकेले नन्दों के लिए रूढ़ हो गई और उधर पालक राजा के अभिषिक्त होने की घटना उसके साथ जुड़ जाने से काल गणना में ६० वर्ष की वृद्धि हुई और उसके फलस्वरूप वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्याभिषेक माना जाने लगा। हेमचन्द्राचार्य ने दो श्लोकों से उक्त भूल का सुधार कर दिया। चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण समय की वर्ष संख्या १५५ में आगे के २५५ वर्ष [१०८ स ३०+६०+१३+४] जोड़ देने से ४१० होते हैं। यही वीर निर्वाण से विक्रम का राज्यारोहण काल है। परन्तु महावीर निर्वाण और राज्यारोहण काल के ४१० वर्ष में राज्यकाल के ६० वर्ष भी सम्मिलित कर लिए जावें। ऐसा किए जाने पर विक्रम संवत्, विक्रम मृत्यु का संवत् हो जाता है और फिर सारा झगड़ा मिट जाता है। 'पं० सुखलाल संघवी ने लिखा है[1] कि 'प्रोफेसर जैकोबी ने बौद्ध और जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक दृष्टि से तुलना करके अन्तिम निष्कर्ष निकाला है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के पीछे ही अमुक समय के बाद ही हुआ है। जैकोबी ने अपनी गहरी छानबीन से यह स्पष्ट कर दिया है कि वज्जि-लिच्छवियों का कुणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध निर्वाण के बाद और महावीर के जीवन काल में ही हुआ। वज्जि-लिच्छवी गण का वर्णन तो बौद्ध और जैन दोनों ग्रन्थों में आता है, पर इनके युद्ध का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं आता जबकि जैन ग्रन्थों में आता है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने डा० जायसवाल की तरह ही महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण प्राप्ति का यौक्तिक समर्थन किया है। उनके अपने विवेचन में विशेषता यह है कि उन्होंने महावीर की ज्येष्ठता को भी अनेक प्रकारों से मान्यता दी है। महावीर और बुद्ध के निर्वाण काल में डा० मुकर्जी ने जायसवाल के मत को अक्षरशः अपनाया है जिसके अनुसार महावीर का निर्वाण काल ई० पू० ५४६

---

१. दर्शन और चिंतन—पृ० ४७-४८

और बुद्ध का निर्वाण काल ई० पू० ५४४ है[1]। कामता प्रसाद जैन ने भी इसी काल-क्रम को अपनाया है पर उनकी धारणा में ज्येष्ठ बुद्ध हैं और पूर्व निर्वाण प्राप्त महावीर हैं। धर्मानन्द कौसाम्बी ने लिखा है कि बुद्ध तत्कालीन सातों धर्माचार्यों में सबसे छोटे थे। बुद्ध की जन्म तिथि में कुछ कम या अधिक अन्तर पड़ जाता है, तो भी उससे उनके जीवन चरित्र में किसी प्रकार का गौणत्व नहीं आ सकता। महत्व की बात बुद्ध की जन्म तिथि नहीं है। डा० हर्नले के मतानुसार महात्मा बुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण के ५ वर्ष पश्चात् हुआ तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से तीन वर्ष पूर्व होता है। मुनि जिन-विजय ने डा० जायसवाल के मत को मानते हुए महावीर को पूर्व निर्वाण प्राप्त स्वीकार किया है। मुनि कल्याणविजय ने लिखा है कि भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास १५ दिन पूर्व निर्वाण प्राप्त हो चुके थे। अर्थात् बुद्ध भगवान् महावीर से आयु में लगभग २२ वर्ष बड़े थे। इसी तथ्य को काल गणना में बांधा जा सकता है—

बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४२ (मई)
महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२८ (नवम्बर)

ई० पू० ५२८ के नवम्बर और ई० पू० ५२७ जनवरी में केवल २ महीने का ही अन्तर है। अतः महावीर-निर्वाण का काल सामान्यतया ई० पू० ५२७ भी लिखा जाता है। उन्होंने बुद्ध का निर्वाण महावीर निर्वाण से लगभग १५ वर्ष पूर्व माना है। इस मान्यता में उनका आधार यह रहा है कि सामगामसुत्त में बुद्ध जो महावीर निर्वाण की बात सुनते हैं, यथार्थ नहीं थी। गोशालक की तेजोलेश्या से महा-वीर बहुत पीड़ित हो रहे थे उस समय लोगों में यह चर्चा उठी थी कि अवश्य महावीर गोशालक की भविष्यवाणी के अनुसार ६ महीने में ही काल धर्म को प्राप्त हो जावेंगे। उनका कहना है कि शायद इसी निराधार अपवाद से महावीर के निर्वाण की बात चल पड़ी हो। वे लिखते हैं जिस वर्ष में ज्ञातृपुत्र के मरण के समाचार सुने, उसके दूसरे ही वर्ष बुद्ध का निर्वाण हुआ। बौद्धों के इस आशय के लेख से हम बुद्ध और महावीर के निर्वाण समय के अन्तर को ठीक तौर से समझ सकते

१. हिन्दु सभ्यता-पृ० २२०

हैं। श्री विजयेन्द्र सूरि ने अनेकानेक प्रमाणों से भगवान् महावीर का निर्वाण काल ५२७ ई० पू० और बुद्ध का निर्वाण काल ५४४ ई० पू० माना है। सम्भवतः उन्होंने समग्र रूप से मुनि कल्याण विजय की धारणा का ही समर्थन किया है। बौद्धपिटकों में आए हुए महावीर निर्वाण के प्रसंगों पर उन्होंने डा० ए०एल० बाशम की इस मान्यता को सम्भावित माना है कि वह वस्तुतः गोशालक का मरण या जिसे बौद्ध शास्त्र संग्राहकों ने महावीर का मरण समझ लिया। डा० शांतिलाल शाह के मतानुसार महावीर का निर्वाण काल ५२७ ई० पू० और बुद्ध का निर्वाण काल ५४३ ई० पू० है। उक्त विद्वानों के मतों का आलोचनात्मक विश्लेषण मुनि नगराज ने किया है उनके कथनानुसार पं० सुखलाल संघवी ने जैकोबी की दो बातों को विशेष महत्व दिया है कि एक तो यह है कि वज्जियों और कुणिक के युद्ध का वर्णन बौद्धशास्त्रों में नहीं है और जैन शास्त्रों में है। प्रस्तुत विषय की निर्णायकता में यह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह युद्ध बुद्ध निर्वाण के पश्चात् और महावीर निर्वाण के पूर्व हुआ था। उक्त मान्यता का मूल आधार महापरिनिब्बाणसुत्त है जिसमें बुद्ध के अन्तिम जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का ही वर्णन है। पर सभी घटनाएँ ऐसी ही हैं, यह यथार्थ नहीं लगता। महापरिनिब्बाणसुत्त में सारिपुत्र भी बुद्ध से वार्तालाप करते हैं, यह सर्वसम्मत तथ्य है कि भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व ही सारिपुत्र का देहावसान हो चुका था। डा० राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा निर्वाण काल क्रम से महावीर की ज्येष्ठता के निरूपण में विसम्वाद पैदा हो गया है। महावीर की आयु ७२ वर्ष और बुद्ध की आयु ८० वर्ष की थी अतः इससे बुद्ध महावीर से ८ वर्ष बड़े हो जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि डा० मुकर्जी महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण प्राप्ति मानते हुए भी उसे कालक्रम के साथ घटित नहीं कर पाए हैं। जहाँ तक भगवान् महावीर के निर्वाण समय का सम्बन्ध है, मुनि कल्याणविजयजी ने सचमुच ही यथार्थता का अनुसरण किया है। किंतु बुद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में तो उन्होंने अटकलबाजी से ही काम लिया है। बौद्धशास्त्रों में उल्लिखित महावीर के निर्वाण प्रसंगों को उन्होंने बहुत ही उल्टा करके देखा है। इस प्रकार खींचतान करके

निकाले गए अर्थ कभी ऐतिहासिक तथ्य नहीं बन सकते। मुनिजी ने भगवान् बुद्ध के ज्येष्ठ मानने में एक प्रमाण यह दिया है बौद्ध साहित्य में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी तीर्थंकरों का जहाँ-जहाँ उल्लेख हुआ है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का नाम सबसे पीछे लिखा गया है। इसका शायद यही कारण हो सकता है कि उनके प्रतिस्पर्धियों में ज्ञातृपुत्र सबसे पीछे के प्रतिस्पर्धी थे। बुद्ध के प्रतिस्पर्धियों में महावीर का नाम अन्तिम हो, तो भी उसका यह अर्थ तो नहीं हो जाता कि महावीर बुद्ध से छोटे थे, प्रत्युत बौद्धपिटकों के प्रसंग तो इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि उनके छहों प्रतिस्पर्धी उनसे पूर्व ही बहुत ख्याति और प्रभाव अर्जित कर चुके थे। वस्तुस्थिति यह है कि मुनि कल्याणविजय ने निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का नाम सर्वत्र ही अन्तिम होने का जो लिखा है, वह भी यथार्थ नहीं। ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का नाम अन्तिम नहीं है। मुनि जी ने भगवान् बुद्ध को ज्येष्ठ और महावीर को कनिष्ठ प्रमाणित करने में जितनी भी युक्तियां दी हैं, वे सबल नहीं हैं। प्रत्युत उनके द्वारा जिस संगति को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया उसी से असंगति का आविर्भाव हो जाता है। त्रिपिटक एक स्वर से महावीर का निर्वाण बुद्ध से पूर्व हुआ यह प्रतिपादित करते हैं। इतना ही नहीं, पिटकों ने स्वयं बुद्ध के मुंह से यह कहलवाया है कि मैं सभी धर्मनायकों में छोटा हूँ। उनमें अनेक स्थलों पर बुद्ध को सभी धर्मनायकों में छोटा कहा गया है। मुनि कल्याणविजय उक्त प्रसंगों की कोई संगति नहीं दे पाये हैं। उन्होंने सर्वत्र ऐसे प्रसंगों को काल्पनिक और भ्रामक कहकर टाला है। यह उचित नहीं हुआ और न बौद्ध पिटकों साथ न्याय ही।

यदि भगवान् बुद्ध की निर्वाण-तिथि को छोड़ दिया जाये तो उक्त विश्लेषण से हम सभी विद्वानों के मतों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहले वे जो जैन साहित्य की काल गणना को मानते हैं उनमें विजयेन्द्र सूरि, मुनि कल्याणविजय, डा० शांतिलाल शाह, मुनि नगराज एवं पं० जुगुलकिशोर मुख्तार हैं—इन्होंने महावीर निर्वाण को ई० सन् के ५२७ वर्ष पूर्व माना है। दूसरा वह समुदाय है जो महावीर निर्वाण तिथि को ६० वर्ष पश्चात् लाना चाहता है, उनमें